Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust
: 302, 'Krishna-Kunj', Plot No.30, Navyug CHS Ltd., V. L Mehta Marg, Vile Parle(w), Mumbai–400056
Phone No. : (022) 2613 0820. **Website:** www.vitragvani.com **Email:** vitragva@vsnl.com

"Vachnamrutsar" has been published by us & the PDF version of the same has been put on our website www.vitragvani.com

We have taken due care, while preparing the same. However, if you find any typographical error, you may kindly inform us on info@Vitragvani.com

By "Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust"
(Shri Shantilal Ratilal Shah-Parivar, Mumbai)

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

वचनामृत साश

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
प्रवचन-तत्वचर्चा में, तथा विविध
प्रसंगो पर निकले हुए वचनामृत

प्रकाशक
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
मुम्बई

ISBN = 978-81-907806-5-0

प्राप्ति स्थान

१. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,**
सोनगढ (सौराष्ट्र). पीन नं. ३६४२५०, फोन ०२८४६ २४४३३४

२. **श्री कुंदकुंद-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,**
३०२ कृष्ण कुंज, प्लोट नं. ३०, वी. ऐल. महेता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुंबई-४०००५६. फोन (०२२) २६१३०८२०
Email. vitragva@vsnl.com

३. **पूज्य श्री कानजी स्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
कहान नगर, लाम रोड़, देवलाली-४२२४०१
फोन नं. (०२५३) २४९१०४४

४. **पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
A-४ बापु नगर, जयपुर, राजस्थान-३०२०१५
फोन नं. ०१४१-२७०७४५८

५. **श्री आदिनाथ-कुंदकुंद-कहान दिगंबर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन),**
अलिगढ-आग्रा रोड, सासणी-२०२००१ (U.P.)

६. **श्री परमागम प्रकाशन समीती,**
श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागीर, जी :- दतिया (M.P.)

७. **श्री सीमंधर कुन्द-कुन्द कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट,**
योगी निकेतन प्लोट 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड, राजकोट-३६०००७. फोन नं. (०२८१) २४७७७२८
मो. ०९३७४१००५०८

प्रथमावृत्ति : १५००, १५ मई, पूज्य गुरुदेवश्री की १२१ वीं जन्मजयंति
पृष्ठ संख्या : २७६ + ४० = ३१६
लागत मूल्य : ५५/-
विक्री मूल्य : २०/-

टाईप सेटिंग :
पूजा इम्प्रेशन्स
भावनगर-३६४००१
मो. ९७२५२५११३१

मुद्रक :
भगवती ऑफसेट
अहमदाबाद
मो. : ९८२५४७७७४५

प्रकाशकीय

स्वाध्याय रसिकजनों के करकमलो में **वचनामृत सार** समर्पित करते हुए हम अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव कर रहे है।

आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी की स्वानुभूति प्रेरक भवतापनाशक मंगलवाणी का रसपान प्रत्येक आत्मार्थी भव्यजीव के लिए अनिवार्य ओंषधि है। स्वर्णपुरी के इस साधक संत ने ४५ वर्षो तक जिनागम का मर्म खोलकर इस पञ्चमकाल में भी जिनशासन प्रभावना का स्वर्णिम अध्याय लिख दिया है।

समयसारादि परमागमों तथा अन्य अनेक ग्रन्थों पर हुए उनके धारावाही प्रवचनो में ग्रन्थ का रहस्य खोलते हुए सहज ही ऐसे अनेक उद्‌गार व्यक्त हो गए जिनका चिन्तन मनन स्वतंत्र रूपसे किया जाय तो मुमुक्षु को स्वानुभूतिपोषक पुरुषार्थ की अपूर्व प्रेरणा मिलती है। ऐसे उद्‌गारो में भेद विज्ञान, सम्यग्दर्शन, स्वानुभूति आदि आध्यात्मिक विषयो के साथ-साथ द्रव्य-गुण-पर्याय, निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार, षटकारक, क्रमबद्धपर्याय आदि अनेक सैद्धान्तिक विषयो का भी संक्षिप्त स्पष्टीकरण हुआ है। अतः इन संक्षिप्त उद्‌गारो का संकलन एवं प्रकाशन भी स्वाध्यायप्रेमी मुमुक्षुओ के लिए विशेष उपयोगी हैं।

समाज में ज्ञानगोष्ठी, पूज्य गुरुदेव के वचनामृत, दृष्टि का निधान, द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, परमागमसार, अन्तरशोधन, श्रावक-धर्म-प्रकाश आदि अनेक संकलन उपलब्ध है। जिनमें बहुत से उद्‌गार लगभग एक जैसे है, अतः पुनरावृत्ति से बचते हुए विशेष उद्‌गारो को चुनकर इस संकलन में प्रकाशित किया गया है। इसप्रकार यह संकलन उक्त सभी संकलनो का प्रतिनिधि संकलन बन गया है। इस संक्षिप्त संकलन में तत्त्वरसिक जनो को सभी प्रयोजनभूत विषयो पर पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृतों का सार प्राप्त हो जाएगा इन संकलनो की प्रकाशक संस्थाओ के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते है।

इन वचनामृतो के संकलन में पं. श्री विमलचंदजी झांझरी, पं. श्री राजेन्द्रकुमारजी जबलपुर, पं. श्री प्रकाशचंदजी दादा मैनपूरी, पं. श्री अभयकुमारजी देवलाली, ब्र. निलिमा जैन युगल कोटा, श्रीमती भावना भावेश शाह बोरीवली का विशेष योगदान रहा है। टाईप सेटींग के लिए श्री निलेषभाई जैन, भावनगर एवम सुंदर मुद्रण कार्य के लिए भगवती ओफसेट, अहमदाबाद इन सबका हम आभार व्यक्त करते हैं।

आशा है आत्मार्थी मुमुक्षुजन इस संकलन के माध्यम से विशेष प्रेरणा प्राप्त करेंगे।

प्रकाशक

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुंबई

अहो-भाग्य

पूज्य गुरुदेव न होते तो आज क्या होता।
सत्य दर्शन का सूर्य अस्त हो गया होता।।

अनादि अनिधन जैन शासन के आराधक अनादि काल से होते चले आ रहे हैं। उनकी आत्म स्पर्शी अनुभव प्रसूत वाणी का अमृत निर्झर भी भव्य जीवों के महा सोभाग्य से बहता चला आ रहा है। चैतन्य के कुशलचितेरे अध्यात्म रस पिपासु भव्य जन उसको हृदयगम करते चले आ रहे है। उन सन्तो महन्तो भगवन्तो की वरसी वाणी से एकत्रित किये कुछ रत्न वचनामृत भव्य जीवो को जीवन दान देते रहे है। ऐसे ही अध्यात्म जगत के देदीप्यमान नक्षत्र, युगपुरुष, अध्यात्म क्रांतिकारी अध्यात्म युग सृष्टा पूज्य श्री कानजीस्वामी उन्नीसवीं शताब्दी में उदित हुये। भरत क्षेत्र के भव्य जनों के हृदय कमल खिलने में आप भानुवत उपकारी हुये। आत्मार्थी जनोंने आपसे अनवरत ४५ वर्षो तक अध्यात्म रस का पान किया समय समय पर प्रगट हुई दिव्य देशना से निकले अनमोल वचनामृतो का संग्रह द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, परमगामसार, ज्ञानगोष्ठी, गुरुदेवश्री के वचनामृत, दृष्टि के

निधान, अंतरशोधन आदि में जो ज्ञान रत्नाकर भरा था उसमें से भी अत्यन्त चमकते-दमकते वचनामृत रत्न अनमोल गुलदस्तावत अनादि की मूल-भूल, पात्रता, वैराग्य, देव-शास्त्र-गुरु, भेद-ज्ञान, सम्यग्दर्शन, द्रव्य-गुण-पर्याय, निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान, क्रमबद्ध-पर्याय आदि बहुत ही आवश्यक विषयो पर यह **वचनामृत सार** श्रृंगारित हुआ है।

* जिनवाणी के अभ्यास से आगम अनुसार यथार्थ धारणा ज्ञान होने पर भी जीव को अंतरशोधन का अभाव क्यों बना रहता है। किस किस तरह यह जीव ठगा जाता है। विचारना अति आवश्यक है।

* कोई किसी का कर्ता-धर्ता नहि है धारणा ज्ञान हो जाने पर भी अंदर में कर्तृत्व बुद्धि का वेदन क्यों बना रहता है।

* पांच इन्द्रियो के विषयो में सुख नहि है। ऐसा धारणा ज्ञान हो जाने पर भी अंतर में सुख बुद्धि का वेदन क्यों बना रहता है।

विपरीतता तोडने में जो व्रज प्रहार होना चाहिए वो क्यों नहीं हो पाता ? विचारना...

गुरुदेवश्री अध्यात्म को हलवा जैसा सरल कहेते थे परन्तु पचाना बहुत पुरुषार्थ साध्य है कहते हे अध्यात्म का विषय कच्चे पारे जेसा है जो अंतर में पचा लेता है वो कृत्य-कृत्य हो जाता है। यदि पात्रता नहि होगी, वैराग्य नहि होगा तो फूट-फूट कर निकलता है। मिथ्यात्व ओर पुष्ट हो जाता है जीवन शुष्क, स्वछंद, निश्चयाभासी हो जाता है।

व्यवहारिक पात्रता यधपि धर्म नहीं है परन्तु निश्चय धर्म आराधक जीवो को कैसी लगनी धगस तड़फ होती है। वैसा वैराग्य लगनी विना भी धर्म प्रगट होनेवाला नहीं है। आज जीवन अध्यात्म की ओट लेकर व्यवहार शुष्क होता जा रहा है।

कहता है ४ लब्धिया तो अनन्त बार हुई है न। तो उससे पूछते है क्या इस पर्याय में पांचों लब्धि के विना ही पाना चाहता है ?

भाई Balance का नाम जैन धर्म है सन्तुलन चाहिये।

आचार्य कल्प पं. टोडरमलजीने कहा है कि निश्चय का आधिक्य हो तो व्यवहार पोषक वचन सुनना व्यवहार का आधिक्य हो तो निश्चय पोषक वचन सुनना।

जैसे भी बने राग मिटाने का श्रद्धानी होना ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है।

लौकिक जीवन भी कैसा अलौकिक होना चाहिए हमारे जीवन से जैन शासन की अवमानना न हो अवहेलना न हो सदा सावधान रहकर जीवन जीना।

वैराग्य ओर **पात्रता** विषय पर पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत पढ़कर लगा की गुरुदेव श्री का रोम रोम भव के भय से कैसा भयभीत था। देव-गुरु-धर्म की कितनी कीमत उनके चित्त में थी सिंहनी का दूध जैसे सुवर्णपात्र में ही ठहरता है वैसे ही आत्मज्ञान प्राप्त होने के लिये कैसा भींगा हृदय होना चाहिए। पूज्य गुरुदेवश्री के ही शब्दो में -

जीवन चला जा रहा है, मोत का नगाडा सिर पर बज रहा है, तेरी काया कुछ देर में राख होने वाली है, मृत्यु चेतावनी देकर नहीं आयेगी। रोटला मिलता हो तो सिर पर पोटला मत बांधना। मोटर, रेलगाडी, हवाई जहाँज की घटनाये सुबह उठते ही अखबार में पढ़ने मिलती है। आंख खुले ओर स्वप्न चला जाये ऐसा क्षणभंगुर है शरीर, अरे..रे.. संसार...! तीर्थंकरो को भी गर्भ में आना पडे हजारो देव सेवा करते है फिरभी... वैराग्य... वैराग्य... वैराग्य...

कुंदकुंद जैसे कुंदन से कुंदकुंदआचार्य हुये है।
अमृत के वरसाने वाले अमृतचंद्राचार्य हुये है।।
कौन जानता कुंद कुंद ओर अमृतचंद्राचार्य देवको।
सबका बोध कराने वाले गुरु कहान प्रचार्य हुये है।।
नमन कर गुरु चरणों में, नमन कर गुरु चरणों में।

आत्मार्थी
राजेन्द्रकुमारजी, जबलपुर

प्रस्तावना

श्री वीतरागी जिनेन्द्र परमात्मा द्वारा उद्घाटित त्रैकालिक सत्य वस्तु-स्वरूप का अविरल प्रवाह भावलिंगी सन्तों एवं तद्मार्गानुसारी ज्ञानी-धर्मात्माओं की पावन परम्परा से आज तक जीवन्त है एवं हमें निरन्तर भव-ताप से बचने की पावन प्रेरणा प्रदान कर रहा है।

ज्ञानी धर्मात्माओं की इसी परम्परा की एक कड़ी है हमारे जीवन शिल्पी पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी। पूज्य कानजी स्वामी एक ऐसे व्यक्तित्व का नाम है, जिन्होंने अपनी कलम से कुछ न लिखकर भी मात्र अपने उपदेशों से एक आध्यात्मिक क्रान्ति का शंखनाद किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री का व्यक्तित्व असाधारण है। उन्होंने सनातन सत्य से बहुत दूर जन्म लेकर भी स्वयं बुद्धत्व की तरह सत्य को न केवल प्राप्त किया अपितु उसका ऐसा व्यापक प्रचार-प्रसार किया कि जिससे असत्य का कागजी हवा महल ध्वस्त हो गया।

गुरुदेवश्री के जीवन एवं उससे प्राप्त बोध का मार्मिक चित्रण बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' ने इसप्रकार किया है -

''सौराष्ट्र के उमराला ग्राम में जन्में उजमबा एवं मोती के ये लाल बाल्यकाल से ही विरक्त चित्त थे और एकमात्र ज्ञान एवं वैराग्य के प्रकरण ही उन्हें पसन्द थे। अपनी उदात्त लोकोत्तर आकाँक्षाओं के समक्ष उन्हें कामिनी का माधुर्य परास्त नहीं कर सका; फलस्वरूप किसी भी मूल्य पर वे उसे जीवन में स्वीकार करने को सहमत नहीं हुए। अन्तर में भोगों से विरक्ति बढ़ती ही गई और अन्त में २४ वर्ष की भरी जवानी में वे स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। दीक्षा के नियमानुसार घर-बार, कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति सब छूट ही गये और दीक्षा के आचार का भी दृढ़ता से पालन होने लगा, किन्तु शान्ति की भूख शान्त नहीं हुई; शोध की प्रेरणा प्रशान्त नहीं हुई और अन्तर्द्वन्द्व चलता ही रहा। अतः अधिक समय

तक वह प्रतिबन्ध सह्य न हो सका और एक दिन (वि.स.१९९१) मस्त-मतंग की तरह उसे भी छोड़कर चल दिये एवं तत्व की मस्ती में घूमते श्री कानजी स्वामी का स्वर्णपुरी (सोनगढ़) सहज ही विश्राम-स्थल बन गया।

श्री कानजी स्वामी के जीवन का यह स्थल सर्वाधिक मार्मिक, स्तुत्य, लोक-मांगल्यविधायक एवं वरेण्य है, जहाँ उन्होंने जीवन के सबसे भयंकर शत्रु मताग्रह को खुली चुनौती दी और अन्त मैं विजयी हुए। जीवन में गृह-कुटुम्ब, कंचन-कामिनी, पद एवं प्रतिष्ठा सभी कुछ तो छूट जाते हैं; किन्तु महान् ऋषि, मुनि एवं मनीषियों का बौद्धिक धरातल इस मताग्रह के प्रचण्ड पाश से मुक्त नहीं हो पाता। फलस्वरूप दृष्टि निष्पक्ष नहीं हो पाती और असंख्य प्रयत्नों में भी सत्य आत्मसात् नहीं होता।

श्री कानजी स्वामी इस युग के एक शुद्ध आध्यात्मिक क्रान्तिदृष्टा पुरुष हैं। उन्होंने जिस क्रान्ति का सूत्रपात किया, ऐसी क्रान्ति पहिले शताब्दियों में भी नहीं हुई। जैन-लोक-जीवन की श्वासें, रूढ़ि अन्धविश्वास, पाखण्ड एवं कोरे कर्म काण्ड की कारा में घुट रही थीं। इसके आगे धर्म कोई वस्तु ही नहीं रह गया था। इन महापुरुष ने शुद्ध जिनागम का मन्थन कर इन जीवन-विरोधी तत्वों को अधर्म घोषित किया और इस निकृष्ट युग में शुद्ध आत्मधर्म की प्राण-प्रतिष्ठा की। उन्होंने जन-जीवन को एक सूत्र दिया, 'स्वावलम्बन अर्थात् निज शुद्ध चैतन्यसत्ता का अवलम्बन ही धर्म है। परावलम्बन में धर्म अथवा शान्ति घोषित करने वाली सभी पद्धतियाँ अधर्म है; फलस्वरूप विश्वसनीय नहीं है।

जिस समय भारत वसुधा पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का अवतरण हुआ उस समय भी आध्यात्मिक चिन्तन का रिवाज तो था किन्तु उस चिन्तन में अध्यात्म नहीं था। आध्यात्मिक चिन्तन का यह स्वरूप हो चला था कि आत्मा को कहा तो शुद्ध जाता था, किन्तु वास्तव में माना अशुद्ध जाता था अथवा यदि शुद्ध माना भी जाता था तो

आगम भाषा के दासत्व के कारण शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध माना जाता था और व्यवहारनय से अशुद्ध। इसतरह श्रद्धा के लिये कोई धरती ही नहीं रह गई थी और दो नयों की चक्की में घुन की तरह पिसकर आत्मा की मट्टी पलीत हो रही थी। बड़े से बड़े विचारक, महान प्रतिभाएँ, त्याग और वैराग्य के आदर्श, नय की इस चक्रीयता में इसतरह मुग्ध थे कि न तो उसमें से निकलने का मन था और न सामने कोई रास्ता। सौराष्ट्र के इस सन्त ने जंगलों के निर्जनों में समयसार एवं मोक्षमार्ग प्रकाशक जैसे परमागमों का गम्भीर अवगाहन कर इस आध्यात्मिक समस्या का सरलतम समाधान प्रस्तुत किया।

इन महापुरुष का अन्तर जैसा उज्जवल है, बाह्य भी वैसा ही पवित्र है। उनकी अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक एकरूप एवं परिमित आहार, आगम सम्मत सत्य सम्भाषण, करुण एवं सुकोमल हृदय उनके विरले व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। उनकी दिनचर्या इतनी नियमित एवं संयमित है कि एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाता। 'समयं गोयम मा पमायए' की वीरवाणी उनके जीवन में अक्षरशः चरितार्थ हुई है। शुद्धात्मतत्व का अविराम चिन्तन एवं स्वाध्याय ही उनका जीवन है। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति वे सदैव सतर्क एवं सावधान हैं। उसका उल्लंघन उन्हें सह्य नहीं है। उनके जीवन का प्रत्येक स्थल अनुकरणीय है। निश्चित ही वे इस जगत् के वैभव हैं और युग उन्हें पाकर गौरवान्वित हुआ है।" (चैतन्य विहार, पृष्ठ १२ से १४ एवं ३० से ४०)

गुरुदेवश्री का व्यक्तित्व विराट समुद्र के समान अथाह है, उसका सर्वांगीण मूल्यांकन हम मन्दबुद्धियों द्वारा किया जाना सम्भव नहीं है।

गुरुदेवश्री ने अपने पैंतालीस वर्षीय अध्यात्म जीवन में शुद्धात्मस्वरूप का बोध कराने वाले जो मुक्ता-मोती बाँटे हैं, उसने इस जगत् को अज्ञानरूप दरिद्रता से परिमुक्त कर दिया है। उनके द्वारा प्रदत्त

आध्यात्मिक विवेचन के सन्दर्भ में बाबूजी के निम्न विचार दृष्टव्य हैं -

``श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र का तो विशद विवेचन श्री कानजीस्वामी की वाणी में हुआ ही है, किन्तु साथ ही जैनदर्शन के आधारभूत सिद्धान्त निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान एवं आर्हत्-दर्शन का प्राण अनेकान्त आदि का जो अत्यन्त प्रामाणिक, आगम-सम्मत एवं सतर्क प्रतिपादन हुआ है, वह चित्त को चकित कर देता है। सम्भवतः जैनदर्शन का आधारभूत कोई सिद्धान्त ऐसा नहीं है, जिसमें उनके ज्ञान एवं वाणी का व्यवसाय नहीं हुआ हो। अध्यात्म का ऐसा सांगोपांग एवं व्यापक विवेचन तो शताब्दियों में नहीं हुआ। उनकी प्रज्ञा ने अज्ञान की जड़े हिला दी हैं। तीर्थंकरों एवं वीतराग सन्तों के हृदय का मर्म खोलकर उन्होंने हमें तीर्थंकरों के युग तक पहुँचा दिया है। उनकी प्रज्ञा ने आगम के गम्भीर रहस्यों की थाह लेकर जो मर्म निकाले हैं, वह इस युग का एक आश्चर्य-सा लगता है। वाणी का यह कमाल कि पैंतालीस वर्ष के धारावहिक प्रवचनों में कहीं भी पूर्वापर विरोध नहीं है।

उनके प्रवचनों से कल्पनातीत आध्यात्मिक साहित्य का सृजन हुआ है। शाश्वत शान्ति के विधि-विधानों से भरे उनके आध्यात्मिक साहित्य ने भारतीय साहित्य का शीश विश्व में ऊँचा किया है। वह साहित्य युग-युग तक शान्ति के पिपासुओं को सच्ची शान्ति का दिशा-निर्देशन करता रहेगा। उन्होंने जिस आध्यात्मिक क्रान्ति को जन्म दिया है, उसने युग के प्राण मौत के मुँह से निकाल दिये। आज जन-जन के श्वास-प्रश्वास में अमरत्व का संचार होने लगा है। आज के त्रस्त जन-जीवन को उनकी वाणी में सही राह एवं राहत मिली है। अतः निष्पक्ष दृष्टि से श्री कानजी स्वामी का युग भारतीय इतिहास एवं श्रमण संस्कृति की निश्चित ही एक स्वर्ण युग होगा। उन्होंने भारतीय इतिहास में एक बेजोड़ अध्याय जोड़ा है। वे उस क्रान्ति के उन्नायक महामानव हैं, जिनका जन्म रक्त में नहीं विरक्त में होता

है। जिस क्रान्ति के उदय में आत्मा क्लान्ति का नहीं वरन् मंगलमय शान्ति का संवेदन करता है। लक्ष-लक्ष मानवों ने उनकी इस शान्तिवाहिनी क्रान्ति का समर्थन किया है और उसके सत्य को परख कर उसमें दीक्षित हुए हैं। आज लोक का यह स्वर कि **'यदि यह मुक्तिदूत नहीं होता तो हमारी क्या दशा होती?'** लोक हृदय की सच्ची अभिव्यंजना है। निस्सन्देह श्री कानजीस्वामी लोक-मांगल्य की प्रतिष्ठा करने वाले एक लोकदृष्टा एवं लोकसृष्ट्य युगपुरुष हैं।" (चैतन्य विहार, पृष्ठ ३९-४०)

उनके द्वारा प्रदत्त यह अमूल्य धरोहर आज हमें कैसेट्स एवं सी.डी. के माध्यम से तो उपलब्ध है ही, उनके प्रवचनों के सैकड़ों ग्रन्थ प्रकाशित होकर हमारे अज्ञानतिमिर के प्रक्षालन का निमित्त बने हुए हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन साहित्य से चयनित उनके मङ्गलकारी वचनामृतों के संकलन भी विपुल मात्रा में प्रकाशित हुए हैं। गुरुदेवश्री का एक-एक वचन मङ्गलसूत्र की तरह हमारे लिए सौभाग्य का प्रतीक है।

पूज्य गुरुदेवश्री के अपने प्रवचनों में जहाँ त्रैकालिक शुद्ध ज्ञायक तत्व की महिमा से हमें परिचित कराया है, वहीं उनके प्रवचनों एवं वचनामृतों में उस ध्रुवतत्व के आराधक की पृष्ठभूमिरूपी सत्पात्रता, वैराग्य रस से भीगे हुए स्वलक्ष्यी परिणाम, वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अर्पणता इत्यादि का भी प्रतिपादन हुआ है। आत्मस्वभाव की उपलब्धि हेतु प्रयत्नशील होने पर भी अभिप्राय की वे भूले, जो स्वरूपोपलाब्धि में बाधक बन जाती है, उस पर भी उन्होंने विस्तार से प्रकाश डाला है।

हम कह सकते हैं कि पूज्य गुरुदेवश्री का प्रत्येक प्रवचन; उनके प्रवचन का प्रत्येक वाक्य सत्पात्र जीव को आत्मानुभूति कराने में समर्थ है।

प्रवचन में कोई भी ग्रन्थ हो, किसी भी विषय का प्रतिपादन हो, उसका सारभूत तात्पर्य निज शुद्धात्मा की उपासना उनकी वाणी में सदैव मुखरित रहा है। सच तो यह है कि गुरुदेवश्री की वाणी ने इस विषम पंचमकाल में तीर्थङ्करों का विरह भूलाकर हमें तीर्थंङ्करों के युग में पहुँचा दिया है। गुरुदेवश्री के सम्बन्ध में कुछ भी कहना सूर्य को दीपक दिखाने जैसी बालचेष्टा के अतिरिक्त अन्य क्या हो सकती है।

पूर्व में प्रकाशित हुए द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर, परमागमसार, अंतरशोधन, ज्ञानगोष्ठी, पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत, श्रावक धर्मप्रकाश, दृष्टि के निधान, कहानगुरुदर्शन आदि सभी ग्रंथोमें से वचनामृत चयन किये गये हैं। अतः उन सभी संकलनकार एवं प्रकाशको के हम आभारी हैं।

इस मङ्गल कार्य के लिए आत्मार्थी बन्धु श्री चिदानन्दजी बधाई के पात्र है।

इन मङ्गलमय वचनामृतों की अमूल्य भेंट प्रदान करनेवाले जीवनशिल्पी परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के श्रीचरणों में सादर वन्दन समर्पित करते हुए अपनी बात पूर्ण करता हूँ।

देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ (राजस्थान)

प्राक्कथन

आदि काल से ही भरत खण्ड की पुण्य धरा पर युग प्रवर्तक आदीश जैसे तीर्थंकरो की अक्षय परम्परा सदियो से चली आ रही है। इसी प्रवाह क्रम में दि. श्रमण संस्कृति के संचालक साधु पुरुषो का उदय हुआ, जिनने मुक्ति के प्रकाश स्तंभ कल्याणकारी श्रुत की प्रतिष्ठा की। यही श्रुत दीपक प्राणियों के घने अंधकार के भेदने में समर्थ हुआ आज भी इस अमर साहित्य को पाकर यह धरती हरी-भरी है।

काल चक्र के शुभ मूर्हत में इस श्रुत साहित्य का सींचन करनेवाले दि. क्षितिज के दैदीप्यमान नक्षत्र, पू. गुरुदेव कानजी स्वामी का अवतरण इस शताब्दी के अंर्तगत उमराला ग्राम में हुआ। आपके जीवन उत्थान का एक प्रेरक प्रसंग है मिथ्या संस्कारो से ग्रसित परिवार में जन्म लेकर भी संप्रदाय का पिशाच इन्हे अपने पंजे में जकड़ नहीं पाया और जीवन में सत्य की आशावादी किरण व निश्चित उद्देश्य लिए निष्ठुर यात्री की तरह ध्येय के साथ निरंतर बढते ही चले गये। विपत्तियों के पर्वत उस उतुँग हिमगिरी से हार, उनके चरणों में झुक गये, क्योंकि यह शक्ति विचार व मनोबल की दृढता में नहीं बल्कि निर्णय में निहित थी।

छद्म वेश से वेष्टित होने पर भी जागरुक व सजग मानस उन्हैं गुमराह नहीं कर पाया, पिंजर में शुक विव्हल वह कटुबंधन तोड़ने की प्रतिक्षा में थें, ध्रुव के धुनियाँ की धवल धारा शाश्वत सत्य की ओर तेजी से बढ रही थी जिसे पाने को उनका रोम-रोम न्यौछावर था।

अभिशाप बना वरदान पूर्व श्रुत की लब्धि के साथ ही श्रुत का पिटारा 'समय रत्न' मिला भाग्य का सूरज दमका, अध्यात्म के सर्वोच्च शिखर का स्पर्श कर अब वह शिल्पी चैतन्य प्रतिमा गढ़ने

में व्यस्त था, अनन्तर क्षणों में ध्रुवधाम के कपाट खुलते ही उस विदेही वाटिका में वह भ्रमर सदा के लिए समा गया। संसार सत्य से पृथक, निष्पक्ष, अचल सत्य को पाकर वह निर्मोही योगी सुवर्ण नगरी की ओर चल पड़ा, वहीं निर्जन के कोने में बैठा अन्तस् की आलोक रश्मि के लोक में जीने वाले पुण्य पूत सिद्ध सी सिद्धि पाने के लिए मंत्र पाठ करता था सत्य भी है, सहज पकने वाला फल मीठा रस देता है। वह ध्येय गुरु मंत्र बन गया। गतिमान समय चक्र उस पुरुषार्थी की गति में व्यवधान नहीं डाल पाया। तत्वज्ञान का सशक्त हथियार, अर्न्तमन की महक लेकर, चिर अनादि से सुषुप्त चेतना को अनुप्राणित किया और यही अक्षय सत्य उनका जीवन सहचर बन गया।

पथ तो था पर पाथेय इस युग को आपसे मिला। दिगम्बर प्रांगण में आप सावनी घटा के मेंघो से बरसे मरुस्थली मन की प्रतीक्षित प्यास बुझी, अबोध जगत को सम्यक बोध मिला। मानव मन के तार को झंकृत करने वाली आपकी ओजस्वी वाणी का स्पर्श पा लोहमयी परिणति में स्वर्णिम सौंदर्य उभर आता है।

चैतन्य विहारी पू. गुरुदेवने संत कुन्दकुन्दआचार्य एवं अमृतचंद्रआचार्य के काव्य का दोहन किया, कर्तावाद की जड़ो को हिला, बोधिबीज रोपा, वस्तु तत्व स्वातंत्र्य व परिपूर्णता का शंखनाद फुंका, पुण्य-पाप की धधकती ज्वाला में ज्ञान सिन्धू का पानी सींचा।

मुमुक्षु मंडलेश्वर का विरल चिंतन अपूर्व सत्य की ओर बढता हुआ वीतरागता के अन्तस्तल को छूकर उसके व्यक्त स्वरूप का उद्घाटन करता है, क्योंकि उनकी अनुभूति की तीव्रता समूद्र की लहरों सी आवेग भरी होती थी, जहाँ शुभ-अशुभ की बस्ती उजड़ जाती हैं विकल्पों का कोलाहल मंत्र मुग्ध हो अदृश्य हो जाता हैं - एक मात्र चेतन चक्र की राजधानी का ही स्वर गूंजता हैं।

अतिशय पुण्यशील होने पर भी पुण्य के अतिशय से अप्रसन्न

थे, कृत्रिम जागतिक प्रसंगो के प्रति अत्यन्त उदासीन और अपने अकृत्रिम 'परम देव' को पाकर हर्षित थे - जीवन की हर श्वास में उस देवता के ही दर्शन होते थे, तभी वैराग्य व शांति का वैभव उनके चरणों में लोट-लोट कर आता था।

पवित्रता के पुंज इन पुरुष के व्यक्तित्व का भाव पक्ष द्रव्य पक्ष की प्रतिबद्धता से सुसज्जित था। एक ओर इसरूप में समायी चेतना दूसरी ओर स्वार्थो की निर्लिप्तिता से ऊपर उठ चेतना की कीर्ति फेलाने वाली विश्व मानव के साथ वात्सल्य भरी दृष्टि यही चेतना सागर के ज्वार सी समूचे समूह को डोलायमान करने वाली थी। क्षमा का मंत्र जिनकी हर श्वास में ध्वनित था प्रतिद्वंद्वी भी जिनकी छाया पा नतमस्तक थे और इसी में आपका भाव पक्ष सुरक्षित था।

सोना नगरी में उस दिव्य पुरुष के निकट प्रदेश-प्रदेश से आई स्नेह धाराए अध्यात्म के महासागर में एकीभूत हो अपने को धन्य अनुभव करती थी, उनकी आशीषे लेने को आतुरित रहती थी आज वह नगरी उस पुरुष की चैतन्य गूंज के साथ यात्रियों को एक दर्शनीय स्थल भी बनी हैं।

आत्म साधक दिगम्बर संतो के प्रति प्रगाढ आस्था व श्रद्धा की एक झलक 'दिगम्बर साधु यह तो साक्षात छोटे सिद्ध हैं, उपशम रस के साँचे में ढल गये हैं',

'दिगम्बर संतो के शास्त्र चैतन्य चिन्तामणि को दिखाने वाले विशाल शिलापट'

दिगम्बर यतीश्वरो पर संमर्पित मन से मंथित निसृत वचन पूर्वाग्रही नहीं बल्कि अनाग्रही है, जो लाखों व्यक्तियों को पंथ व ग्रन्थ से अछूता निग्रन्थ मार्ग दर्शाते हैं।

सिद्धान्तो के सिद्ध हस्त साधक ने जैन दर्शन में निहित विज्ञान को आगम सम्मत युक्ति तर्क व प्रमाण की प्रमाणिकता से सिद्धकर

जगत के समक्ष रखा जिस में दर्शन को पंख मिले और तत्वो को नव परिवेश। सृष्टि के कण-कण की मुक्ति का जय घोष कर कण-कण को तार दिया। भाव श्रुत की पावक में तपाकर निमित्त उपादान, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्ध अनेकांत जैसे गूढ़ सिद्धांतो को शुद्ध कर डाला। यह व्यापक दृष्टिकोण इस प्रकाशक का दर्पण है।

आपके वैरागी चिंतन अंश...

'अहो ! शरीर पर प्रहार होते हैं और भीतर आत्मा में शांति का वेदन चलता रहता हैं दुनिया देखती है कितना दुःखी है ज्ञानी देखते है कितना सुखी है।'

'विषयादि सुख को भोगने के फल में अनंत बार नरक-निगोद में उत्पन्न हुआ, अब अहितकारी भावो को छोड़ने का यत्न कर - प्रमाद में क्यो पड़ा है।'

मुक्ति के पथिक की पात्रता...

'मोक्षमार्गी की पात्रता व पुरुषार्थ अलौकिक होता है उसका व्यवहारिक जीवन अहिसंक व पवित्र होता है और आत्म प्राप्ति की सच्ची अभिलाषा होती है रागादि-विषय कषाय में तुच्छता भासित होती है। बारम्बार स्वरूप लक्ष की ही धुन रहती है।'

'आत्मानुभूति के लिए भद्रता तो ऐसी हो कि स्वयं के अल्प दोष भी कोई बतलायें अथवा स्वयं देखे तो तुरंत ही स्वीकार करे, अन्य के अल्पगुण का भी बहुमान करे - स्वयं की महत्ता बढाने के लिए अन्य की हीनता करना वक्रता है।'

दिगम्बर शासन व वनवासी श्रमणों पर समर्पित आपके श्रद्धा-वचन...

'अहो ! मुनि दशा अर्थात् केवलज्ञान की तलहटी स्वरुपानंद में झुलते-झुलते हजारो बिच्छुओं के काटने पर भीषण वज्रपात की घोर ध्वनि में भी आनंद की गहराई में उतर कर क्षण में केवलज्ञान प्राप्त कर ले, उस अद्भूत मुनि दशा की क्या बात। धन्य है वह

दशा।'

ज्ञान स्वभाव प्रकाशक निर्मल ज्ञान से निकले बोधि बिन्दु...

'केवलज्ञान की एक समय की पर्याय की शक्ति है कि उसमें त्रैलोक्य के समस्त चर-अचर पदार्थ ज्ञात होते हैं परन्तु सामने ज्ञेय है इसलिए केवलज्ञान है ऐसा नहीं और केवलज्ञान है इसलिए लोकालोक ज्ञेय है ऐसा भी नहीं।'

'स्वपर प्रकाशक शक्ति के कारण ज्ञान ज्ञान को ही जानता है ज्ञेय को जानता है एसा कहना वह तो व्यवहार है जानने वाला स्व को जानते हुए पर रागादि को जानने रुप परिणमता है तथापि उसे ज्ञेयकृत ज्ञान हुआ ऐसा नहीं किन्तु उसे ज्ञानकृत ज्ञान हैं। ज्ञेयाकार रूप से ज्ञात हुआ, वह आत्मा ज्ञात हुआ है राग ज्ञात नहीं हुआ।'

'क्रमबद्ध' पर्याय दृष्टि का अंत ध्रुव दृष्टि का प्रारंभ...

'क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय ज्ञायक स्वभाव के अनंत पुरुषार्थ पूर्वक होता है।'

'क्रमबद्ध के स्वीकार से कर्तृत्व दृष्टि का अंत हो अकर्ता स्वभाव की दृष्टि हो जाती है - पुरुषार्थ की दिशा सही हो जाती है।'

'क्रमबद्ध के निर्णय से प्रत्येक पर्याय के षट्कारक की क्रमबद्ध स्वतंत्रता का ज्ञान हो, षट्कारक के परिणमन का भी लक्ष छूट त्रैकालिक ज्ञायक की अनुभूति हो जाती है।'

पू. गुरुदेव का विश्व को यह उदात्त दान था। जो चिर दारिद्रका अंत कर मणिमय पिटारे की ओर खींच लाता है। आपका यह साहित्य जीवन में अटल विश्वास जगाता है, वास्तव में उस महा मानव के संबंध में कुछ कहाना सागर के जल को अंजली में भरने जैसा अपना ही उपहास है।

सिद्धांत मंत्र की तरह छोटे होते है किन्तु अंकुश की शक्ति से उन्मत मन को ऐरावत हाथी की तरह प्रतिबंधक होते है ऐसे

ही ये गुरु मंत्र चाहे छोटे हो किन्तु केवल्य शक्ति के विस्फोटक हैं - पलक झपकते ही समाधान सामने रख देतें हैं।

ये चिंतन कणिकायें शाश्वत सत्य है, यह जीवनोपयोगी सामग्री पाठको के स्वागतार्थ प्रस्तुत हैं भव्यजन संग्रहित सिद्धांतो के सार का मर्म स्पर्श करें।

इतिहास के सुनहले पृष्ठो को सजाने हेतु यह लघु ज्ञान रंगोली अर्पित ऐसी भावो की भावावली के साथ पू. श्री गुरुदेव को कोटी प्रणाम

ब्र. नीलिमा जैन
पुत्री श्री जुगलकिशोरजी युगल
कोटा

दो शब्द

अनादि का भ्रम का मजबूत किला ध्वंस्त् करने के लिये तत्त्व जिज्ञासू जीव की पात्रता पर ही समकित का सूर्य उगना संभव है। इस गंभीर विषय पर पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के प्रवचनो एवम तत्त्वचर्चा में निकले उद्‌गार भव्य जीवो के लिये अत्यंत उपयोगी है। **वचनामृत सार** मोती चुन चुन कर हार बनाया है।

सभी साधर्मी इसका स्वाध्याय, चिंतन, मनन करके स्वसन्मुख होकर जन्म सफल करे इसी मंगल भावना के साथ -

आत्मार्थी
विमलचंद झांझरी
उज्जैन

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीका जीवन परिचय

पूज्य गुरुदेवश्री का जन्म एक शताब्दी पूर्व भारत भू पर अज्ञान एवं धर्मान्धता के व्यापक घटाटोप के बीच हुआ। उस समय धर्म प्रायः लुप्त-सा हो गया था। रूढ़िवाद व अन्धविश्वास में फँसकर मनुष्य इसे ही धर्म मान बैठे थे, उन्हें इन क्रियाओं से भिन्न धर्म के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान ही नहीं था, ऐसे समय में पूज्य गुरुदेव का जन्म इस युग की एक असाधारण घटना थी, जिन्होंने सत्य धर्म का परिशुद्ध स्वरूप जन जीवन को देकर उनके भीतर चैतन्य प्राण का संचार किया।

संवत् १९४६ वैशाख सुद दोज २१-४-१८९० रविवार के दिवस भारत वर्ष में दो सूर्य एक साथ उदित हुए। एक सूर्य आकाश में गर्मी फेलाता हुआ उदय को प्राप्त हुआ तब ही दूसरा सूर्य लोगों के अज्ञान अंधकार को हरकर सम्यग्ज्ञान प्रकाश प्राप्त कराने के लिए, अनादिकाल से पर में सुख लेने के लिए आकुलित हुई परिणति को परम शांत रस में अमृत पान कराने के लिए इस सूर्य का उदय हुआ। सौराष्ट्र के उमराला नाम के छोटे से गाँव में आज लोगों में आनन्द का पार नही। कुदरत आनन्द से प्रफुल्लित हो उठी थी। कारण की आज मोतीचन्दभाई तथा उजम्बा माता के वहाँ एक पवित्र आत्मा का आगमन हुआ है। सगे सम्बन्धी इस बालक की मुख मुद्रा देखते तृप्ति को प्राप्त नहीं होते थे। माता पिता के हर्ष का पार नहीं था। ज्योतिषी देखने के लिए आया तो बालक को विस्मय होकर देखता ही रह गया। और कहता

है कि यह बालक तो जगत का तारणहार हैं। बालक का नाम कानजी रखने में आया। उमराला जैसे धूल भरे गाँव में कानजी का जीवन आनन्द से व्यतीत हो रहा था। अतिशय गोरा और कोमल शरीर देखकर कानजी के मित्र उनको मेडम कहकर चिढ़ाते थे। और घर के सम्बन्धी भी पुई कहकर बुलाते थे। अंतरग में छिपी पवित्रता, कोमलता, निष्पृहता तथा उदासीनता मानों की बाह्य देह में पसर रही हों। तेज बुद्धिमता के कारण स्कूल में प्रायः प्रथम नंबर पास होते थे। सबसे पहली बार सिद्धोवर्णसाम्नायः सीखा था। लौकिक अभ्यास के साथ साथ जैन शाला में भी अभ्यास करने जाते थे। वहाँ भी प्रथम नंबर रहते थे। जैनशाला में अभ्यास करते करते लौकिक अभ्यास का रस उड़ जाता है। ओर तेरह वर्ष की उमर तक छः क्लास पढ़कर अभ्यास छोड़ देते हैं। जो लोगों के तारणहार है उनको ऐसे तुच्छ लौकिक पढ़ाई मैं कहाँ से रस आवे। गाँव में प्लेग नाम का रोग निकल पड़ाता है। व्यवसाय के लिए पिता मोतीचन्दभाई संवत १९५९ में पालेज आते हैं। इसलिए कानजी भी पालेज आ जाते हैं। कानजी प्रथम से ही सोम्यता, निर्दोषता, निडरता, प्रमाणिकता, निष्पृहता जैसे अनेक सद्गुणो से भरे हुए हैं। ये गुण निम्नलिखित प्रसंग ऊपर से देखने में आते हैं। सत्रह वर्ष की उम्र में कानजी दुकान के ऊपर बेठे हैं। इतने में पुलिस दिवाली की इनाम लेने आती हैं। इनाम के लिए बातचीत चलती है। और पुलिस वाला नाराज होकर चला जाता हैं। पुलिस कानजी ऊपर अफीम का खोटा केश दाखिल करता हैं। वडोदरा की कोर्ट में साक्षी देने में आती हैं। कानजी की प्रतिभा निर्दोषता तथा निडरता देखकर न्यायधीश कहता है कि इनको पिंजरे में नही पर बाहर खड़ा रखो। तीन घंटे चली कोर्ट में कानजी बहुत ही निडरता से निःशंकता से तथा प्रमाणिकता से सभी प्रश्नों के

जवाब देते हैं। उसके बाद अदालत पालिज में आती है। और फेंसला देती है कि ये केश बिलकुल झूठा है। इस केश के लिए जितना भी पैसा खर्च हुआ हो वह पुलिस के पास से वसूल कर सकते हों। परंतु यह तो विदेह का वासी, करुणा का सागर, लौकिक न्याय नीति पर चलनेवाला, अलौकिक पुरुष हैं। पुलिस पास से कुछ भी नही लेते हैं और केश पूरा होता हैं।

'एक वक्त भागीदार के साथ दुकान का माल लेने के लिए मुंबई जाते हैं। माल खरीदकर मुंबई से पालेज वापिस आते समय सामान ज्यादा हो जाता है। इसलिए लदे हुए सामान का भागीदार को टिकिट लाने के लिए कहते हैं। तब भागीदार कहते हैं कि टिकिट क्यों लेना। यहाँ से बैठने के बाद कौन पूछनेवाला है। और पालेज का स्टेशन मास्टर अपनी पहचान का है। तब कानजी तुरन्त ही कहते हैं कि अपने से ऐसा खोटा कार्य नहीं होना चाहिए। ज्यादा वजन का जितना पैसा लगे उतना भर दो।'

संवत १९६३ में पालेज में वैराग्यरस से भरा रामलीला नाटक देखते समय कानजी का हृदय वैराग्य के शांतरस से तरबोल हो रहा था। मंगलमय उज्जवल भावि का सूचक और पूर्व में आराधना से सिंचित पूर्व संस्कार का एक अंकूर फूट निकलता है। वैराग्य की ऐसी धून चड़ती है कि अंदर से स्फुरणा होती है। और रोम रोम में से एक ध्वनि निकल पड़ती है **शिवरमणी रमनार तू तू ही देव नो देव** रोमांच उल्लसित होता है। और भावनाके प्रवाह में १२ लाईन की ६ कड़ी बन जाती है। अहो ! धन्य है ये उदासीनता मुख मुद्रा ऊपर सदा अंकित रहती है। वैराग्य से भरे हुए नेत्र असाधारणता और अलौकिकता का दर्शन कराते हैं।

संवत १९६४ में १८ वर्ष की उम्र है। बड़ोदा में सती अनसुया का नाटक देखने जाते हैं। नाटक चल रहा है सती अनसुइया

उसके पुत्रको गोदी में लेकर सुला रही है और गीत गा रही थी की बेटा तु शुद्धोसि, बुद्धोसि, निर्विकल्पोसि, उदासीनोंसि बस पीछे तो बहता वैराग्य के झरने का ढाल मिल गया और पूर की भांति बहता यह वैराग्य का झरना। स्वयं को ही स्वयं के बारे में ऐसा भासित होने लगा कि मैं शुद्ध हुं बुद्ध हुं। रुचिपूर्वक झेला हुआ पूर्व के अध्यात्म के संस्कार फिर से हरे भरे होने लगे। **एक बार भी यथार्थ रुचिपूर्वक ग्रहण किया हुआ स्वरूप का संस्कार निष्फल जाता नहीं है।**

पालेज में दुकान का व्यवसाय संभालते संभालते इस प्रकार वैराग्य के प्रवाह के कारण व्यापार में कहीं रस आता नहीं है। दुकान के **काम में फुरसत मिलते ही अपना स्वाध्याय करने लगते हैं।** अंतरंग उदासीनता सहित बाह्य में इस प्रकार की रसरहित प्रवृति देखकर घरके लोग उनको भगत कहकर बुलाते हैं। व्यवहारिक तरिके सभ्य लोगोंकी दृष्टि में वह पागल दिखते हैं। परन्तु लोग जिनको पागल कहते है ऐसे भगत भगवान के पास पहले है ऐसे वैराग्य उदासीन रस से सराबोर कानजी को दीक्षा लेने के भाव आते हैं। पालेज में पाँच वर्ष प्रामाणिकता से धंधा करते है। उस दरम्यान जिनके संसार का अब अंत आ गया हो और जो थोड़े ही समय में मुक्ति रूपी कामिनी के वर बननेवाले हैं। ऐसे कानजी के लिए धनाढय व्यक्ति अपनी कन्याओंके संबंध लेकर आते हैं। लेकिन दीक्षा लेने की भावना होने से कानजी स्पष्ट मना कर देते हैं। दीक्षा लेने के लिए योग्य गुरु की खोज में निकल पड़ते हैं। बहुत से साधू देखे परंतु मन कहीं ठहरा नहीं। अंत में बोटाद संप्रदाय के हीराचंद महाराज के संपर्क में आऐ और वहाँ मन ठहरते ही उनके पास दीक्षा लेने का नक्की किया।

वि. सं. १९७० मागशर सुद नवमी रविवार ७-१२-१९१३

के दिन हाथी के ऊपर बैठकर दीक्षा प्रसंग चल रहा था। हाथी के ऊपर चड़ते ही नसेनी में धोति भरने से धोती फट जाती है। मन में सहज ही आता है कि कुछ खोटा हुआ है। **कुदरत का संकेत है वस्त्र सहित मुनिपना नहीं होता। उनके द्वारा सनातन दिगम्बर जैन धर्म का प्रचार और प्रसार होनेवाला है। उसका यह कुदरती संकेत हैं।**

दीक्षा लेने के बाद तुरन्त ही श्वेताम्बर शास्त्रोंका गहन और गहरा अभ्यास शुरु होता है अभ्यास की धून पीछे दूसरे बिना काम का समय बरबाद होता है वह पुसाता नहीं है। अंतरंग में सत्य क्या है उसकी खोज चल रही। संप्रदाय की रीत प्रमाणे पात्रा रंगने में समय जाता है। वह भी गमता नहीं है। एकबार बोले यह क्या स्वाध्याय छोड़कर यह करना तब सहज भाव से गुरु महाराज कहते है कि पात्रा बिना के गुरु शोधलो। किसको पता था कि ये कानजीमहाराज पात्रा रहित ऐसे कुंदकुंदआचार्यदेव के मार्गकी बहुत प्रसिद्धि करनेवाले हैं ? संप्रदायकी प्रत्येक क्रियाओंका बहुत कड़ा व चुस्ततापूर्वक पालन कर रहे हैं। थोड़े समयमें ही लोगोमें ऐसी बात चलने लगी कि `कानजीस्वामी के आगे केवलज्ञान चक्कर लगाता है। जिस सत्यकी खोज थी वह चालू ही रही। संप्रदाय में शास्त्रोंकी बातोंका मेल बैठता नहीं है और स्वयंके अंतरपटमेंसे सैद्धांतिक बातकी स्फुरणा होना शुरु हो गई। जो निम्न प्रसंगसे दर्शनीय है।

दीक्षा लेनेके पश्चात् सभामें प्रवचन दौरान कहा कि, `जीव स्वतंत्ररूपसे विकार करता है, कर्म विकार नहीं कराता। अपने उलटे पुरुषार्थसे जीव विकार करता है और अपने ही पुरुषार्थसे वह विकारको मिटाता है। ऐसी सिंह गर्जना सुनते ही कायरोंके कलेजे कापने लगे। परंतु उनके प्रभावके आगे कोई कुछ बोल न सका। देखिये!

अभी तो दिगम्बर शास्त्र हाथ नहीं लगे, इसके पहले ही भीतरसे संस्कार कैसे झलक रहे हैं !! जो स्वयं पूर्ण वीतराग होनेके लिये निकले, उन्हें वीतरागताके, संस्कार भीतरमेंसे ही स्फुरित होने लगते हैं। जो स्वयं प्रचंड पुरुषार्थ उजागर करके पूर्ण होनेके पथ पर निकले हो, उनकी वाणीमें पुरुषार्थ हीनताकी बात कहाँसे आती ? जिनका वीर्य भीतरसे ही जोर करता हो उसे कौन रोक सके ? अहो ! धन्य है इनकी ऐसी शूरवीरताको !!

संवत १९७१ में वेजलका गाँवमें एक स्वप्न आया। स्वप्नमें ऐसा दिखा कि सारा आकाश शास्त्रोंसे भर गया है। जैसे मानो परमागममंदिरका संकेत आया !! अहो ! जिनकी निर्मल श्रुतज्ञानकी धारामेंसे सम्यक् मोक्षमार्गका रहस्योद्घाटन होना है और भरतक्षेत्रमें जिनके द्वारा शास्त्रोंकी प्रभावना होनेवाली है, उन्हें जैसे आगेसे कुदरती संकेत आने लगे !!

संवत १९७२ का फाल्गुन मास गुरुभाइयोंके बीच चर्चा चल रही है। गुरुभाई बार-बार ऐसा कहते थे कि `जैसा केवलीने देखा होगा, वैसा होगा। हम क्या कर सकते हैं ? केवलीने ऐसा देखा होगा तो पुरुषार्थ होगा' कुछ समय तो स्वयं ऐसी बात सुनते रहे। परंतु एक दिन उन्होंने कहा कि `केवलीने जैसा देखा होगा, वैसा होगा ये तो बराबर, परंतु जगतमें केवलज्ञान है इसकी प्रतीति किसको होगी ? कि ज्ञानस्वभावी आत्माकी दृष्टि जिसे संप्राप्त हो उसको ही वैसी प्रतीति आती है और तीनकाल - तीनलोकको जाननेवाले केवलज्ञानका जिसके भीतरमें स्वीकार आया उसके लिये भगवानने भव देखे ही नहीं।' अहा ! दीक्षा लिये अभी दो ही साल हुए है, तथापि इनके अंतरंगमेंसे कैसी पुरुषार्थप्रेरक बातें आ रही हैं! कोई कभी पुरुषार्थ हीनताकी बातें करता तो उन्हें सुहाता नहीं था।

ऐसे-ऐसे अनेक प्रकारसे पूर्व संस्कार बाहरमें झलकते रहे और

भीतरमें सत्यकी खोज चालू रही। संप्रदायके शास्त्रमें जिनप्रतिमा संबंधित विपरीत निरूपण, सैद्धांतिक विपरीतता इत्यादिक मालूम होने पर संप्रदाय परसे विश्वास उठ गया। एकबार इनके गुरु हीराचंदजी महाराजने कहा कि, 'कानजी तुम सभामें पढ़ो' तब कहा कि 'महाराज ! मैं प्रवचन देने नहीं आया, परंतु मैं तो अपने आत्माका हित करने आया हूँ।' फिर भी कभी कभार नहीं चाहते हुए भी जाहिरमें प्रवचन देना पड़ता था। अंतरंगमें बार-बार पुकार उठती कि, सत्यकी खोज मुझको ही करनी होगी। गाँव-गाँवमें विहार किया। विहारके वक्त भी क्रियाओंका कड़ा पालन करते थे जिसके कारण दिन-प्रतिदिन उनकी ख्याति और प्रसिद्धि वृद्धिगत् होती चली।

संवत १९७६, दामनगरमें चर्चा चल रही है कि, 'मिथ्यादृष्टि हो तब तक ही मूर्तिपूजा होती है, समकित होनेके पश्चात् मूर्तिपूजा नहीं होती।' तब उन्होंने कहा 'समकितीको ही सच्ची मूर्तिपूजा होती है, मिथ्यादृष्टिको नहीं होती। क्योंकि मूर्ति है वह स्थापना है, स्थापना है सो निक्षेपका भेद है और निक्षेप उसीको लागू होता है कि जिसको नय संप्राप्त हो। और नय सम्यक् श्रुतज्ञानीको ही होता है, मिथ्यादृष्टिको नहीं, अतः सच्ची मूर्तिपूजा सम्यक्दृष्टिको ही होती है।

ऐसी ही एक दूसरी चर्चामें किसीने कहा कि, 'विकार होनेमें कर्मके ४९% और जीवके पुरुषार्थके ५१% मान्य रखो।' तब स्वयंने कहा, 'नहीं विकार होनेमें कर्मका एक प्रतिशत भी कारण नहीं, सौ के सौ प्रतिशत जीवका कारण जीवमें है और सौ के सौ प्रतिशत कर्मका कारण कर्ममें है। अहो ! कैसे अद्भुत सिद्धांत भीतरमें स्फुरित हो रहे हैं।'

संवत १९७७, वांकानेरमें स्थिरताके दौरान एक अद्भुत प्रसंग बना। ॐकार ध्वनि सुनाई पड़ी और स्वप्नमें बहुत लंबी काया और ज़रीयुक्त कपड़े पहना हुआ राजकुमार दिखाई पड़ा। कभी तो 'मैं

तीर्थंकर हूँ' ऐसा भी आ जाता, उसवक्त स्वयं आश्चर्यमें खो जाते परंतु बात समझ नहीं आती थी।

जिस सत्यको स्वयं ढूँढ़ रहे हैं वह मिल नहीं रहा है और मनमें उद्भवित असमाधान व शंकाओंका निराकरण नहीं हो रहा है, जिसके कारण कहीं भी चैन नहीं ! परंतु कहावत है कि जहाँ चाह है वहाँ राह है और **कुदरत भी भावनाके साथ बंधी हुई है** इस सिद्धांत अनुसार वह मंगल घड़ी आ चुकी ! ई. स. १९२२ संवत १९७८ के फाल्गुन मासमें दामनगर गाँव, वहाँके दामोदर शेठने उनके पास आकर श्री समयसार शास्त्र दिया, कि जिसमें रहे मार्गकी सुप्रसिद्धिका सौभाग्य इनकी ललाट पर ही लिखा था। इसतरह भरतक्षेत्रके समर्थ आचार्य कुंदकुंदाचार्य विरचित ग्रंथाधिराज समयसार हाथ लग गया। शास्त्रको देखते ही हृदयोद्गार निकल पड़े 'शेठ ! ये तो अशरीरी बननेका शास्त्र है।' अहो ! कैसी पूर्णताकी भनक आयी ! अहो ! जिनकी स्वयंको उत्कंठा थी, जिसके लिये दिन-रात खोज चलती थी, वह हाथ लग जानेसे अंतरमें आनंदकी सीमा न रही। बस ! फिर तो समयसारके एक-एक वाक्यमें, एक-एक पंक्तिमें निहित अमृतका रसपान करने हेतु स्वयं सुबह आहार लेकर गाँवके बाहर एक गहरे खड्डेमें जाकर स्वाध्याय शुरू किया। ज्यों जौहरीकी नजर सच्चे मोती या माणिकको इसकी चमकसे परख लेता है और इसकी कीमत कर लेता है वैसे समयसारमें निहित रत्नोंकी कीमत इनको ज्ञाननेत्रमें अंकित होने लगे। समयसार पढ़ना शुरू किया कि तबसे पर्याय क्रमसर - क्रमबद्ध होती है ऐसा भीतरमेंसे आना शुरू हो गया।

संवत १९७८, विंछिया गाँवमें वैसाख वदी अष्टमीके दिन फिरसे एक बार भीतरमें ॐकार ध्वनि आया। पहले पूरा ॐ आया बादमें आधा ॐ आया। इस बार तो साथमें साड़े बारह क्रोड़ बादित्र

भी सुनाई दिये। ये क्या संप्रदायमें तो ॐकारकी मान्यता है नहीं फिर ये क्या हो रहा है ? अंतरंगमें सब फेरफार होने लगा। तत्पश्चात् तो अनेक दिगम्बर शास्त्र हाथमें आये और प्रत्येक शास्त्रका गहन अभ्यास करते गये। संप्रदायमें ही जाहिर प्रवचनोंमें अनेक सैद्धांतिक रहस्योंका उद्घाटन होने लगा।

संवत १९८३में चर्चा चली। जिसमें एक शेठने ऐसा कहा कि 'काललब्धि पकेगी जब मोक्ष होगा, पुरुषार्थ करनेकी कहाँ जरूरत है ?' उसवक्त खुदने मोक्ष मार्गप्रकाशकका आधार दिया, इसके बावजूद भी ज्यादा दलीले चली तब स्वयंने कहा, 'शेठ ! वादविवाद मत करो। क्योंकि खोजी जीता है और वादी मरता है।'

संवत १९८५ में बोटादमें एकबार प्रवचनमें कहा, 'जिस भावसे तीर्थंकरप्रकृत्तिका बंध होता है वह भी धर्म नहीं है। जिस भावसे बंधन हो वह धर्म नहीं हो सकता और मीठी भाषामें कहे तो वह अधर्म है।अहो ! ऐसा कहनेका सामर्थ्य तीर्थंकरद्रव्यके अलावा किसका हो सकता है ? इसतरह अनेकानेक दिगम्बर जैन सिद्धांतोंका प्रतिपादन होना शुरू हुआ।

संवत १९९०, राजकोटमें समयसार पर जाहिर प्रवचन दौरान कहा, '**पूर्णताके लक्ष्यसे शुरूआत ही वास्तविक शुरूआत है।**' पूर्णता माने साध्यरूप मोक्षदशा। स्वयंके बहुत गहरे मंथनमेंसे निकला यह सूत्र मुमुक्षुजीवके लिये दिशाबोध समान है, इतना ही नहीं कहाँसे और कैसे शुरूआत करनी इसका सूचक है।

संवत १९९९ ई. स. १९३५ तक गुरुदेवश्री ने अनेक गाँव पावन किये। स्थानकवासी साधुओ में गुरुदेवश्री का स्थान अजोड़ था। कानजी महाराज क्या कहते है यह सुनने के लिए साधु साध्वी तक उत्सुक रहते थे।

इसी अरसेमें उन्होंने, जाहिर किया कि 'मैं संप्रदायमें रहनेवाला

नहीं हूँ।' बस ! समाजमें खलबली मच गई! संप्रदायका कोहिनूर हीरा संप्रदाय छोड़नेकी बात कर रहा है ?! जिसे पूर्णता साध्य करनी है, जिसे पूर्ण वीतराग होना है, वह लोगों के या संप्रदायके बंधनमें कहाँसे रह सकता है ? जो भाव अप्रतिबद्धतासे निरंतर विचरते हो, वे समाजके प्रतिबंधमें कहाँसे रहेंगे ? ये तो सिंहको बाड़में बाँधने जैसी बात हो गई ! इसतरह समाजमें बहुत सन्मान मिलता था फिर भी स्वयं निस्पृहतापूर्वक सत्यके खातिर संप्रदाय छोड़नेको तैयार हो गये। संप्रदाय छोड़नेके निर्णयसे अनेक प्रकारसे विरोध हुआ, लोगोंने धमकीयाँ दी, फिर भी स्वयं निःशंकतापूर्वक व निर्भयतापूर्वक संप्रदाय छोड़नेके निर्णय पर कायम रहे।

संवत १९९१ चैत्र सुदी १३, मंगलवार १६-४-१९३५ शासननायक महावीरस्वामी भगवानके जन्मकल्याणक दिन, जिसके समीपमें शत्रुंजय जैसी पवित्र तीर्थभूमि है, जो शांत वातावरणमें सुशोभित है, और जिस सोनेके गढ़मेंसे इस अध्यात्मसूर्यकी कांति बहुत फैलनेवाली है, ऐसे सोनगढ़ गाँवके 'स्टार ऑफ इन्डिया' नामके मकानमें भगवान पार्श्वनाथके चित्रपट समक्ष परिवर्तन किया। संप्रदायका चिह्न मुहपत्तिका त्याग किया और स्वयंको सनातन दिगम्बर जैनधर्मके अव्रती श्रावकके रूपमें घोषित किया।

गुरुदेवश्री ने जिसमें परिवर्तन किया। वह मकान वसति से अलग होने से बहुत शांत था। कोई दर्शनार्थ पधारा मुमुक्षु जब गुरुदेवश्री की स्वाध्याय ज्ञान ध्यान में लीन देखता तब हजारो मानसो की भीड छोड़नेवाला महात्मा की सिहवृति निरीहता निर्मानता देखकर हृदय नमी पड़ता। गुरुदेवश्री ने जो किया होगा वह समझकर किया होगा। ऐसा सोच सोचकर धीरे धीरे लोग तटस्थ होने लगे।

अंतरंग साधनाके साथ-साथ बाह्यमें जिनेन्द्रदर्शन, प्रवचन, तत्वचर्चा व भक्ति इत्यादिक कार्यक्रम नियमित होने लगे और दिन-

प्रतिदिन प्रभावना बढ़ती चली। प्रथम वि.सं. १९९४के वैशाख वदी अष्टमी रविवार के दिन 'स्वाध्याय मंदिर' का निर्माण हुआ। उसवक्त भी उन्होंने निस्पृही वृत्तिसे कह दिया 'आप भले ही ये सब निर्माणकार्य करते हो, परंतु हम किसीसे बाध्य नहीं है, यदि हमारी वीतरागता बढ़ गई तो यहाँसे चले जायेंगे।' अहो ! धन्य है इनका वैराग्य व धन्य है इनकी निस्पृहता ! उसी दिन पूज्य बहिनश्री चंपाबहिनके पवित्र करकमलोंसे श्री समयसारजीकी स्थापना हुई। तत्पश्चात् संवत १९९७ में जिनमंदिरका निर्माण हुआ, और इसमें विदेहीनाथ श्री सीमंधर भगवानकी स्थापना करवाई और भगवानका विरह भूलाया। अध्यात्मसे सराबोर व स्वानुभवसे विभूषित वाणी एवं श्रुतलब्धि संपन्न निकलती दिव्यध्वनिसे लोग आकर्षित होकर सोनगढ़ आने लगे, जिससे समाजमें एक युग परिवर्तन आया। जो सत्य अंधेरेमें खोया हुआ था उसे स्वयंके अंतरंगमें उदित ज्ञानप्रकाश द्वारा खोजकर प्रसिद्ध किया। अनादिसे परिभ्रमण कर रहे व दुःख भोग रहे जीवको शाश्वत् सुख कैसे प्राप्त हो, इसका प्रकाशन शुरू हुआ। अचूक लक्ष्यवेधी रामबाण जैसी वाणी मिथ्यात्वके पटलको तोड़ने लगी। सोनगढ़में ही समवसरण, मानस्तंभजी, परमागममंदिरकी रचना हुई। परमागममंदिर अर्थात् भारतवर्षकी एक अद्वितीय रचना !! आचार्य श्री कुंदकुंददेवकी वाणीको अमर रखनेके लिये निर्मित हुए इस परमागममंदिरमें पौनेचार लाख अक्षरोंको टंकोत्कीर्ण किया गया। जिसके माध्यमसे पाँचों परमागम सफेद संगमरमरमें टंकोत्कीर्ण हुए। करीब २५००० के जनसमुदायके बीच मनाया गया परमागममंदिरका पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव गुरुदेवश्रीके तीर्थंकरद्रव्यकी प्रतीति कराता है। गाँव-गाँवसे लोग सोनगढ़ आकर बसने लगे और गुरुदेवश्रीकी देशनाका लाभ लेना शुरू हो गया। जिस तरह सूरजको छाबड़ीसे नहीं ढका जाता वैसे पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रभावना उदय सोलह कलाओंमें खिल

उठा और क्रमशः इनके पवित्र करकमलोंसे ३३ पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएँ और ३३ वेदी प्रतिष्ठाएँ हुई।

परम पूज्य गुरुदेव श्री का मुख्य वजन समझ पर था। 'तमे समजो समज्या विना बधु नकामुं छे' ऐसा गुरुदेव बारम्बार कहते। प्रवचन दरम्यान बारम्बार समझानु काईक ऐसा कहते कोई आत्मज्ञानी या अज्ञानी एक परमाणु मात्र को हिलाने की सामर्थ्य धरता नही तो पीछे देहादी की क्रिया आत्मा के हाथ में कहाँ से हो अज्ञानी परद्रव्य तथा रागद्वेष का कर्ता होता है और ज्ञानी अपने को शुद्ध अनुभवता हुआ उसका कर्ता होता नही है, कर्तत्वबुद्धि छोड़ने का महापुरुषार्थ प्रत्येक जीवको करना चाहिए। वह कर्तत्वबुद्धि ज्ञान विना छूटेगी नहीं। इसलिए तुम ज्ञान करो। ऐसा गुरुदेवश्री के प्रवचनोंका प्रधान सुर हैं।

गुरुदेव श्री के व्याख्यान में स्पष्टता, अनेक सादा उदाहरण देकर शास्त्रीय शब्दोको कम से कम प्रयोग करके समझाते थे कि सामान्य मनुष्य भी उसको सहजता से समझ जाता है। अत्यंत गहन विषय को भी अत्यंत सुगम रीतिसे प्रतिपादित करने की गुरुदेव में विशिष्ट शक्ति है। गुरुदेवश्री की व्याख्यान शैली इतनी रसमय है कि जैसे सर्प बासुरी के पीछे मुग्ध बनते है। इसप्रकार श्रोता मंत्र मुग्ध बन जाते थे। समय कहाँ खत्म हो जाता है उसका पता लगता नही। स्पष्ट और रसमय होने के बाद गुरुदेवश्री का प्रवचन श्रोताओंमें अध्यात्म का प्रेम उत्पन्न करता है। गुरुदेवश्री प्रवचन करते करते अध्यात्म में ऐसे तन्मय हो जाते थे की परमात्म दशा प्रत्ये की ऐसी भक्ति उनके मुख पर दिखती है कि श्रोताओं पर उसका असर हुए बिना रहता नहीं और मुमुक्षुओं के हृदय अध्यात्म रस से भींग जाते थे।

संवत २००० इ. सन १९४३ की साल में जब गुरुदेव विहार

में थे उस वक्त जयधवल का पहला भाग प्रसिद्ध हुआ। वह हाथ में आने पर एवं वांचने पर गुरुदेवश्री को जिनवाणी के प्रति अत्यंत अतिशय बहुमान और प्रमोद आया कि ताजी सूनी दिव्यध्वनि फिर से सूनने को मिली हो और गाँव गाँव में मुमुक्षु मंडलो द्वारा उत्साह से उसका श्रुतपूजन हुआ।

जैन समाजका अग्रिम नेता इन्दोर के **श्रीहुकुमचंदजी शेठ** गुरुदेव की अध्यात्म ख्याति सुनकर और उनके द्वारा हुए जैन धर्म की महान प्रभावना देखकर सं. २००१ की वैशाख वद छठ ता. २-२-१९४५ के दिन गुरुदेव का दर्शन तथा सत्संग के अर्थ सोनगढ पधारे। उनका गुरुदेवश्री के साथ पहला सत्संग था। गुरुदेवश्री की प्रवचन और भक्ति वगैरह अध्यात्म रस से भरा वातावरण देखकर खूब ही आनंदित हुए और स्वाध्याय मंदिर को २५००१/- की उदार भेंट उस समय दी। यह सोनगढ तीन दिन रहे वैशाख वद छट्ठ से आठम तक सभी उत्सवो में हर्ष से भाग लिया। समवसरण की रचना देखकर उनको बहुत प्रसन्नता हुई।

संवत २००२ मागशर सुद दशम ता. १५-१२-१९४५ के दिन श्री हुकुमचंद शेठजी के हाथ बहुत ही आनंद और उल्लास से भरे हुए वातावरण में श्रीकुंदकुंद प्रवचन मंडप का शिलान्यास हुआ। उस वक्त ११००१/- श्री हुकुमचंद शेठने अर्पण किया। शिलान्यास प्रसंग शेठजी ने कहाँ कि.....`महाराजश्रीके उपदेश प्रभावसे बहुत जीवों को लाभ हुआ है। मेरा भी अहोभाग्य है कि मुझे महाराजश्री के चरणों की सेवा का लाभ प्राप्त हुआ है। मेरी तो भावना है कि मेरा समाधिमरण महाराजश्री के समीप में हो। आपके पास तो मोक्ष जाने का सीधा रास्ता है।'

संवत २००३ के फाल्गुन वद १ ता. १९-३-१९४६ के दिन भगवान श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप का उदघाटन शेठ श्री हुकुमचंद

शेठ के हाथों से बहुत उल्लास के वातावरण में हुआ। ३५०००/- की जाहेरात के साथ शेठजी ने कहा कि मे मेरे हृदयमें ऐसा समझता हूँ की मेरी सर्वस्व संपत्ति इस सतधर्म के प्रभावना के अर्थ न्योछावर कर दु तों भी कम हैं। शेठजी के पंडितजी देवकी नंदनजी ने कहा कि हम तो बहुत ही भूल में थे। आपने ही हमें सत्य समझाया है।

सौराष्ट्र में अनेक ग्रामों में जिनमंदिर बनना शुरू हुए। उसमें सर्वप्रथम सं. २००३, फाल्गुन वद ३, ता. ९-३-१९४७ के दिन सर हुकुमचंदजी शेठ के हाथो विछियामें दिगम्बर जिनमंदिर का शिलान्यास हुआ। उस प्रसंग में भाषण करते उन्होंने कहा कि ऐसी पवित्र धर्मप्रसंग में भाग लेने के लिए में दिनरात तैयार हूँ। मेरी भावना है कि जैन धर्म का डंका हिन्दुस्तान में बजता रहे।

संवत २००३ के फाल्गुन वद ई. सन् १९४७ मार्च माह में सोनगढ में भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत परिषद का वार्षिक अधिवेशन हुआ। अधिवेशन में बनारस, आग्रा, दिल्ली, कटनी, सागर, लखनऊँ सब जगह से लगभग ३२ विद्वान भाई पधारे थे। ये सब विद्वान सोनगढ का आध्यात्म वातावरण देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए।

प्रत्येक द्रव्यकी स्वतंत्रताका ढिंढ़ोरा पीटकर यह कहानसूर्य अपनी आभाको फैलाता हुआ जिनमार्गकी प्रभावनामें अग्रेसर होता जा रहा था। गाँव-गाँवमें जिनमंदिरोंकी स्थापना, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, लाखोंकी तादातमें शास्त्रोंका प्रकाशन, हजारों भक्तोंके साथ तीर्थयात्रा इत्यादि इनके भावि तीर्थंकरपदके सूचक हैं। जिस गाँवमें या शहरमें उनके पवित्र चरणारविंदका स्पर्श होता है वहाँ लोग उमड़ पड़ते हैं। भोपालमें उनके दर्शन हेतु व वाणी सुननेके लिये ४०,००० लोगोंकी भीड़ हुई। मुंबई जैसी महामोहमयी नगरीमें उनकी

पवित्र देशनाका लाभ लेनेके लिये १० से १५ हज़ार लोग एकत्रित हो जाते थे। धवल जैसे महासिद्धांत शास्त्र एवं अन्य परमागमों पर जिनके जाहिर प्रवचन हुए हैं। ग्रंथाधिराज समयसारजी पर तो जाहिरमें १९ बार प्रवचन हुए हैं। समुद्रके मध्यबिंदुसे उत्पन्न हुए बाढ़ जैसे आकाशको छूनेकी कोशिश करती है, परंतु उससे वैसा हो नहीं सकता, परंतु यहाँ तो पूज्य गुरुदेवश्रीके श्रुतज्ञानसमुद्रमेंसे उद्‌भवित यह बाढ़ चारों दिशामें अमृतकी लहर उड़ाती हुई गगनको छूने लगी !! अंतरंगमें उछल रही सुख-शांतिकी लहरें बाहरमें सुननेवालोंको भी शांति दे रही है और ये सुख-शांतिकी लहरें पवित्र होकर धन्यताका अनुभव करने लगी।

संवत २०१३में भक्तोंके विशाल संघ सहित सम्मेदशिखर, राजगृही, पावापुरी, चंपापुरी, मंदारगिरी इत्यादि तीर्थोंकी यात्रा की। गाँव-गाँवमें स्वागत करनेके लिये आये हुए लोग अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्रीको आश्चर्यपूर्ण नेत्रोंसे देखते रहते !! ये हैं कौन ?! क्या ये कोई तीर्थंकर तो नहीं ? देहका भव्य देदार, अध्यात्मरससे भरी हुई शांत मुखमुद्रा, नेत्रोंमें देदीप्यमान पवित्रता और भीतरी मिथ्यात्वका नाश करनेवाली वाणी - इन सब चीजोको देखकर लोगोंके हृदय झुम उठते।

संवत २०१५ व २०२० में दक्षिणमें श्रवणबेलगोला, मुडबिद्रि एवं स्वयंके उपकारी तारणहार कुंदकुंदाचार्यदेवकी तपोभूमि पोन्नूरगिरि व समाधिस्थल कुंदाद्रिकी यात्रा की। इसके अलावा हजारों भक्तगण सहित गिरनारजी, शत्रुंजय, तारंगा, पावागढ़ आदि सिद्धक्षेत्रोंकी व अन्य तीर्थक्षेत्रोंकी यात्रा की। सम्यक्‌ज्ञानके साथ भक्तिका समन्वय हुआ। तीर्थंकर कभी अकेले मोक्ष नहीं जाते इस बातकी प्रतीति यहाँ होती है।

पूज्य गुरुदेवश्रीके भावश्रुतसमुद्रमेंसे प्रत्येक द्रव्यकी स्वतंत्रता,

क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, सम्यक्‌दर्शन, स्वानुभव इत्यादिक अनेक रत्नोंकी वृष्टि हुई। जिसे झेलकर प्रशममूर्ति पूज्य भगवती माता चंपाबहिन व शांताबहेन व पूज्य निहालचंद्रजी सोगानीजीने सम्यक्‌रूपी महान निधिको धारण करके श्रीगुरुकी गरिमाको वृद्धिगत किया। अंतर्बाह्य प्रभावनाके इतिहासमें सोनेमें सुहागा मिलने जैसा कार्य हुआ। पूज्य गुरुदेवश्रीकी शांतसुधारसमयी वाणीको अंतरमें ग्रहण करके अनादि अज्ञान अंधकारका छेद कर डाला और सम्यक्‌त्वरूपी सूर्यका प्रकाश फैलाकर श्रीगुरुकी यथार्थ व सही प्रभावना की। पूज्य गुरुदेवश्रीके स्वर्णमयी इतिहासमें उदित हुए ये महान सितारे कहानरूपी सूर्यके प्रकाशको शाश्वत फैलाते ही रहेंगे।

जैसे एक हीरेके अनेक पहलू होते हैं वैसे पूज्य गुरुदेवश्रीरूपी कोहिनूर हीरा स्वयंके अनेक अलौकिक गुणोंसे अलंकृत होकर इस भरतभूमि पर चमक रहा है। सदाय झलकती आत्मस्वरूपकी महिमासे, स्वानुभवसे भीगा हुआ हृदय, कोमलता, मध्यस्थता, न्याय अविरुद्धता, भावना व भक्तिसे भीगा हुआ अंतरपट, निर्मानता, विशालता, निस्पृहता, निडरता, निःशंकता इत्यादिक अनेक गुणोंसे सुशोभित पूज्य गुरुदेवश्रीकी आभा सारे भारतवर्षमें फैल रही थी और वृद्धिगत् भी होती ही रहेगी।

श्रीमद् राजचंद्रजीको वर्तमानकालमें प्रसिद्ध करके उनकी अक्षर वाणीका यथार्थ मर्म समझानेका अनूठा कार्य पूज्य गुरुदेवश्रीकी यशगाथामें कलगी समान है।

विरोधियोंके द्वारा चाहे कितना भी विरोध हुआ फिर भी उनके प्रति कितना कोमल संबोधन, '**भगवान ! हम तो किसीकी पर्यायको देखते ही नहीं, फिर भी हमसे देखनेमें आ गयी हो तो प्रभु हमें माफ करना** !' ये उद्‌गार उनके क्षमाभावको, निष्कारण करुणाशीलताको

व कोमलताको प्रदर्शित करते हैं। चाहे कितना भी श्रीमंत या पदाधिकारी हो, इनके प्रति हितार्थ कहे गये कठोर वचनमें भी उनकी करुणा, निस्पृहताके दर्शन होते हैं।

इसतरह अनेकानेक सद्‌गुणोंसे सुशोभित पूज्य गुरुदेवश्रीकी प्रभावना भारतमें व विदेशमें भी फैल रही है। लाखोंकी संख्यामें शास्त्र छप रहे हैं। जो धर्म रुढ़िगत परम्पराओंमें माना जाता था वहाँसे लोगोंको छुड़ाकर सत्य पंथ पर ले आये। लोगोंकी रुचि स्वाध्यायके प्रति जागृत की। नायरोबी जैसे अनार्यक्षेत्रमें भी जिनमंदिरकी स्थापना व लंडन आदि शहरोंमें स्वाध्यायकी प्रवृत्ति उनके अद्वितीय प्रभावना योग व तीर्थंकर योगको सूचित करती है। चारों दिशाओंमें जिन धर्मकी प्रभावनाका ध्वज लहराते-लहराते आत्मसाधना करते रहे।

रोज प्रातः ४ बजे उठकर निज ज्ञायकस्वरूपके ध्यानमें आरूढ़ होकर आनंदामृतका आस्वादपूर्वक दिन शुरू होता। अंतर्मुखताके प्रचंड पुरुषार्थ द्वारा स्वयंके ध्येयके समीप जाना उनका नित्यक्रम था। वीतरागी परमात्माओंके स्मरणपूर्वक समयसारकी १ से १६ गाथाओंका स्वाध्याय करना, समयसारजीमें वर्णित ४७ शक्तिओंका स्मरण करते-करते निज स्वरूपमहिमाको दिन-प्रतिदिन वृद्धिगत् करते गये। प्रवचनसारजीके ४७ नय द्वारा आत्मसाधनाको साधते चले। साथ ही साथ अलिंगग्रहणके २० बोल, अव्यक्तके ६ बोल व श्रीमद् राजचंद्रजी लिखीत 'स्वद्रव्य अन्य द्रव्य भिन्न-भिन्न देखो' इत्यादि १० बोलका भी स्वाध्याय चलता। इतना ही नहीं पुराणपुरुष ऐसे २४ तीर्थंकरोंके नाम स्मरणके साथ-साथ स्वयं बाल ब्रह्मचारी होनेसे पाँच बाल ब्रह्मचारी तीर्थंकरोंका भी स्मरण करते हैं। इसतरह यह अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेवश्रीका ज्ञान-ध्यानमय जीवन निस्पृही साधकके जीवनका दर्शन कराता है।

यह एक शाश्वत व सर्वांगीण सत्य है कि जब महापुरुष मुक्ति का मार्ग खोजने के लिए उद्धत होते हैं, तो विश्व की कोई भी शक्ति उन्हें विचलित नहीं कर सकती।

दिगम्बर संत कुन्दकुन्द व अमृतचंद्र का चैतन्य के गान से युत महाकाव्य समयसार पूज्य गुरुदेव के अनादि अज्ञान को नष्ट करने व अक्षय चैतन्य की दिव्यदृष्टि प्रदान करने में समर्थ रहा। उनकी साधना का सम्पूर्ण आधार इस देह से भिन्न निज चैतन्य सत्ता ही थी, उनके जीवन का एक-एक क्षण इस ध्रुव तत्व के चिन्तन, मनन व आराधन में समर्पित था क्योंकि यहीं पर उन्हें असीम शान्ति व सौख्य की अनुभूति हुई।

पूज्य गुरुदेव के वस्तुपरक चिंतन ने आगम के प्रत्येक ही विषय को जनता के समक्ष अत्यन्त सरल व सुबोध रीति से प्रस्तुत किया। अपने चिन्तन में उन्होंने कहा कि जगत की चेतन व अचेतन सत्तायें परिपूर्ण शुद्ध व अनन्त शक्ति सम्पन्न हैं, प्रत्येक ही पदार्थ अपनी अपनी सीमा में रहकर अपना कार्य स्वयं अपनी ही शक्तियों से करते हैं, कोई आदान-प्रदान नहीं। आत्मा भी अनादि अनन्त निरपेक्ष ध्रुव सत्ता है; उसी की प्रतीति-श्रद्धा सम्यक्‌दर्शन, उसी का सच्चा ज्ञान सम्यक्‌ज्ञान एवं उसी में स्थिरता सम्यक्‌चारित्र है। इसतरह सम्यक्‌दर्शन, सम्यक्‌ज्ञान व सम्यक्‌चारित्र में स्थिरता मोक्षमार्ग है। इसतरह सम्यक्‌दर्शन, सम्यक्‌ज्ञान व सम्यक्‌चारित्र की त्रिवेणी को इस युग में पूज्य गुरुदेव ने ही स्थापित किया। अनुभव की कसौटी पर कसा गया यह चिन्तन, मुमुक्षु समाज के लिए मुक्ति मार्ग का प्रेरणा स्रोत है। उन्होंने जन जीवन को एक ही सूत्र दिया, 'मैं मुक्त हूँ और मोक्षतत्व मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है' यही अमर सूत्र प्राणी मात्र को शुभ अशुभ बंधपर्याय की गुलामी से हटाकर आत्म प्रदेशों में स्वतंत्रता के प्राण फूंकता है, ऐसी स्वरूप में एकाकार

यह निश्चल अवस्था ही सम्यक्दर्शन है।

गुरुदेवश्री की वाणी में निश्चय-व्यवहार का अद्भुत समन्वय था, मोक्षमार्ग में आचरण करने के पूर्व व पश्चात् लौकिक व लोकोत्तर व्यवहार कैसा होता है, इसका सम्यक् परिज्ञान पूज्य गुरुदेवश्री के द्वारा ही प्राप्त हुआ, उन्होंने बताया कि निश्चय के साथ ही असली व्यवहार का जन्म होता है। अज्ञानी का तो सम्पूर्ण ही व्यवहार आत्मा की श्रद्धा के अभाव में पराश्रित व जड़ाश्रित ही है, अतः मिथ्या ही है। गुरुदेवश्री की दिनचर्या भी निश्चय-व्यवहार की संधि युक्त थी एक ओर शुद्धात्मा की अपूर्व महिमा, दूसरी ओर देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति-पूजा का उत्कृष्ट परिणाम प्रतिसमय रहा करता था। यह परम सत्य है कि पूज्य गुरुदेव का जीवन लोकरंजन की सस्ती प्रवृतियों से पार, लोक मांगल्य की उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित होने से उनकी, अनेकांतिक, अहिंसात्मक वाणी से अर्हत् दर्शन के चिरंतन सत्य का उद्घाटन हुआ है, यही सत्य चिर सुषुप्त मोहान्ध प्राणियों के अतीत के मिथ्या अंधकार को भेदने में समर्थ रहा।

यह कोई अतिश्योक्ति नहीं है, कि इस युग में मोक्षमार्ग के उद्घाटन कर्ता पूज्य गुरुदेव ही हैं; जिन्होंने समस्त कर्तव्य से उदासीन हो, देश-विदेशों में घूमकर, जगत के भ्रान्त एवं विह्वल प्राणियों को इस अपवित्र देह में स्थित टंकोत्कीर्ण चैतन्यमुद्रा से परिचित करवाया, जिस अकृत्रिम चैत्य का दर्शन, अवलोकन पूज्य गुरुदेव निरन्तर करते रहते थे-उसी चैतन्य से लाखों मुमुक्षुओं को जीवनदान मिला।

यदि इस पूर्वपक्ष पर हम विचार करें तो पूज्य गुरुदेव के अर्न्तबाह्य व्यक्तित्व में कुछ विरोधाभास-सा लगता है, यदि बर्हिपक्ष दृष्टिपात किया जाय तो विश्व मानव के साथ कितना निकट, वात्सल्ययुक्त, करूणापूर्व व व्यापक सम्बन्ध और अर्न्तपक्ष विचारा

जाय तो पर से कैसी निर्लेपता, निरपेक्षता, गम्भीरता, शांतिप्रियता व स्वसीमितता दृष्टिगोचर होती है - यही विरोधाभास गुरुदेवश्री का असली जीवन था।

गुरुदेवश्री के इस जीवन में कितनी ही विपत्तियाँ आई, किन्तु उस समय वे क्षमा का सशक्त अवलम्बन लेकर, ध्रुव के धरातल पर प्रतिष्ठित रहकर उन परिस्थितियों को आसानी से सह लेते थे। उनका हृदय पुष्प-सा कोमल, आकाश-सा विशाल सागर-सा गम्भीर व वज्र-सा कठोर था, अतः बाहरी अनुकूलता के प्रति उनके चित्त में किंचित भी उत्साह नहीं रहा था।

ऐसे सत्पुरुष इस धरातल पर शाश्वत विद्यमान रहे ऐसी सर्व मुमुक्षुओंकी भावना होने पर भी ये जिन-शासनका चमकता सितारा अपने प्यारे विदेहीनाथको मिलनेके लिये जैसे तैयार हो गया। देहकी स्थितिमें फेरफार होने पर भी उन्होंने कहा, यहाँ हमें तो कुछ मालूम तक नहीं होता है। अहो ! धन्य है इस देहातीत दशाको! देह और आत्माका जैसे ही भिन्न अनुभव हुआ कि, चाहे जैसी परिस्थितिमें भी पुरुषार्थवंत आत्माओंको देहादि भिन्नरूप ही अनुभवमें आता है। इस देहको छोड़कर जानेकी घड़ी आ पहुँची। सारे जीवनकी अखंड साधनाकी फलश्रुतिरूप उग्र पुरुषार्थका प्रवाह शुरू हुआ। निज परमात्मस्वरूपमें लीनता हेतु उपयोगको हर जगहसे समेटकर स्वयं भीतरी पुरुषार्थमें जुड़ गये। स्वसंवेदनका आविर्भाव हुआ। निर्विकल्प ज्ञानवेदन आनंद सहित प्रगट हुआ और परिणति परितृप्तताका अनुभव करने लगी। अनंत गुणोंकी परिणति अपने चैतन्य स्वरूपमें लीन होकर रसास्वादन करने लगी। बाहरमें मुमुक्षु अनंत उपकारी श्रीगुरुकी असहनीय विदाई निःसहाय होकर देखते रहे और ये चमकता सितारा संवत २०३७के कार्तिक वदी ७, शुक्रवारके दिन अस्तताको प्राप्त हुआ।

श्रीगुरुने विदाई ली, विदेहीनाथसे भेट करनेके लिये विदेहीदशामें

आरूढ़ होकर निर्विकल्प आनंदरूपी तोफा लेकर प्रयाण किया। भरतक्षेत्रमें भक्तगण अनाथ हो गया। कभी पूर्ति न हो सके ऐसी कमी आ पड़ी। स्वाध्याय मंदिर, परमागममंदिर व मुमुक्षुओंके मन मंदिर सब सुना पड़ गया। रह गई सिर्फ 'भगवान आत्माकी गूँजार ! रह गई सिर्फ स्मृतियाँ ! रह गया विरह और रह गये मुमुक्षुओंके सजल नेत्रोंमें रहे निरूतर प्रश्न !! अब कौन कहेगा कि 'तुम परमात्मा हो' ? कौन अब 'भगवान आत्मा कहकर बुलायेगा ? क्या ये हकीकत है या स्वप्न ? क्या ऐसा हो सकता है ?'

ये सीमंधरलघुनंदन सबको अनाथ छोड़कर चले गये। ये तो विदेहवासी जन्म-मरणसे मुक्त होनेके लिये निकले हुए महापुरुष ! उन्हें ऐसी जगह रहना कहाँसे पुसाता ? क्या अब वे 'भगवान आत्मा' कहकर प्रेमसभर, मीठा, पुरुषार्थप्रेरक संबोधन नहीं करेंगे ? ऐसा प्रश्न मुमुक्षुओंके हृदयमें सताने लगा। कालकी गति न्यारी है। लौकिक जनोंकी मृत्यु तो जन्म-मरणकी श्रृंखला तोड़े बिना ही हो जाती है, जब कि ये तो मृत्यु-महोत्सव मनानेवाले अलौकिक पुरुष थे जिनकी मृत्युकी कल्पना भी कैसे की जाये ? अंतरंगमें जिन्होंने विदेहीदशा प्रगट की उन्हें अब नई देह मिले तो भी क्या ? वह तो ज्ञानका ज्ञेय रह जाता है। जैसे इस कालमें इस क्षेत्रमें तीर्थंकरका विरह है, परंतु आचार्यों द्वारा चुने गये परमागमोंकी उपलब्धि द्वारा तीर्थंकरकी वाणीका विरह नहीं है। वैसे ही मंगलमय कहानगुरुदेवकी अभी प्रत्यक्ष मौजूदगी भले ही न हो परंतु उनकी वाणी उन्हींकी आवाजमें संग्रहित है। इसके अलावा इनका प्रवचन साहित्य भी काफी मात्रामें उपलब्ध है। जिसके माध्यमसे कल्याणमूर्ति गुरुदेवश्री द्वारा उदित हुआ सनातन वीतराग जैनधर्म इस युगके अंत तक टिकेगा और भव्य जीवोंको सुखकी राह दिखाता रहेगा।

卐

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पेज नं.
१.	अनादि की मूल भूल	०१ से १०
२.	पात्रता	११ से ६६
३.	वैराग्य	६७ से ९६
४.	देव-शास्त्र-गुरु	९७ से १२०
५.	भेद-ज्ञान	१२१ से १४९
६.	सम्यग्दर्शन	१५० से १९०
७.	द्रव्य-गुण-पर्याय	१९१ से २२५
८.	निश्चय-व्यवहार	२२६ से २३२
९.	निमित्त-उपादान	२३३ से २५०
१०.	क्रमबद्धपर्याय	२५१ से २७५

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

१

अनादि की मूल भूल

परमात्मा फरमाते हैं कि प्रभु ! तेरे ज्ञानकी पर्यायमें सदैव स्वयं आत्मा स्वयं ही अनुभवमें आता है। ज्ञानकी प्रकट दशामें सर्वको भगवान आत्मा अनुभवमें आता है।

"अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा" अनुभव में आने पर भी तू उसे नहीं देखता। क्यों ? - इसलिए कि पर्यायबुद्धिके वश हो जानेसे परद्रव्योंके साथ एकत्वबुद्धिके कारण स्वद्रव्यको नहीं देख सकता। ।।१।।

स्त्री-पुत्र-पैसा-आबरू आदिमें या रागकी मंदतामें सुख है - जो ऐसा मानते हैं उन्होंने जीव को मार डाला है; क्योंकि उनका अभिप्राय ऐसा है कि मैं आनन्दस्वरूप नहीं, मुझे मेरा आनन्द बाहरसे मिलता है। चैतन्यपरिणतिसे जीना, वही जीवका जीवन है, अन्य सब तो चलते फिरते मुर्दे हैं। पामर परवस्तुमें

दृष्टि रखकर सुख मानते हैं, पर 'प्रभु तूँ दुःखी है'। जहाँ आनन्दका धाम-आनन्दका ढ़ेर है - उसे जिसने प्रतीति और ज्ञानमें लिया, उसे ज्ञान और आनंदरूप परिणति होती है - यही वास्तविक जीवन है। ।।२।।

प्रश्न :- स्वच्छन्दता याने क्या ?

उत्तर :- विकारी पर्याय सो मेरी नहीं, ऐसा मानकर विकारका सेवन करना। अशुद्धता चाहे जितनी हो, उसका सेवन करना और ज्ञानीके भोगको निर्जरा कहा है तो हमारे भोगके भाव व विषय-वासनाके भावसे भी निर्जरा होती है - वैसा माने तो स्वच्छन्द है। चाहे जितना विकार हो तो भी मुझे क्या ? - ऐसा मानना स्वच्छन्दता है। सच्चा मुमुक्षु ऐसा स्वच्छन्द सेवन नहीं करता। पर्यायमें विकार हो उसे अपना अपराध समझता है। ज्ञानमें सही जानता है, पापमें खो नहीं जाता। मुमुक्षुका हृदय द्रवित होता है, वैराग्यमय होता है। ।।३।।

प्रश्न :- तत्वका स्वरूप सही जानने पर भी जीव किस प्रकारसे अटक जाता है ?

उत्तर :- तत्वको सही जानने पर भी पर के भावमें, गहराईसे अच्छापन लगता है, परलक्ष्यी ज्ञानमें सन्तोष होता है, अथवा दक्षताके अभिमानमें अटक जाता है, बाह्य प्रसिद्धिके भावमें रुक जाता है, अन्तरमें रहनेके भाव न होनेसे अटक जाता है, अथवा शुभपरिणाममें मिठास रह जाती है। ऐसे विशेष प्रकारकी पात्रता बिना जीव अनेक प्रकारसे अटक जाता है। ।।४।।

अनन्त-अनन्त गुणोंके सागर - ऐसे भगवान आत्माके अनन्त-अनन्त गुणोंसे विरूद्ध भाव, जो मिथ्यात्व है, उसके गर्भमें अनन्तान्त भव पड़े हैं, इसीलिए सर्व प्रथम उसका त्याग करना चाहिए। अनन्त गुणोंके भण्डाररूप भगवानसे विरुद्ध श्रद्धारूप-मिथ्यात्वभावमें अनन्त-अनन्त गुणोंका अनादर है। अनन्त गुणोंका लाभ स्वआश्रयसे होता है। ऐसा न मानकर पराश्रित ऐसे रागभावमें जिसने अपनापन माना है, उसने अनन्त गुणोंका अनादर किया है। अनन्तानन्त गुण हैं उनका अनादर कर, रागके एक कणको भी अपना मानने वाले - मिथ्यात्वभावमें अनन्तानन्त दुःख भरे हैं। इसीलिए इस मिथ्यात्वभावके त्यागका उद्यम क्यों नहीं करता? गफलतमें कैसे रहता है ? ।।५।।

करोडों श्लोक धारणामें लिये परन्तु अन्तरमें सूक्ष्म रूपसे पर के झुकावमें कहीं न कहीं अच्छा लगता है। परका ज्ञान है सो तो परसत्तावलम्बी ज्ञान है, उसमें प्रमोदित होता है कि बहुत लोगोंको समझाऊँ तथा वे रंजित हों - ऐसी सुख कल्पना रह जाती है। **धारणामें यथार्थ ज्ञान होने पर भी अन्तरमें अयथार्थ प्रयोजन रहनेसे सम्यग्दर्शन नहीं होता।** ।।६।।

दया-दान-भक्ति-प्रोषध-प्रतिक्रमण-सामायिक आदि क्रियाकाण्ड़में कुशलता, रूखाआहार लेना इत्यादि सभी क्रियायें - शुभ राग व पर की हैं। जो केवल शुभ रागकी क्रियाओंमें ही सन्तुष्ट हो जाते हैं कि "मैंने बहुत किया" - उन्हें इन पुण्य-पापसे रहित निष्कर्म-भूमिकाकी प्राप्ति नहीं होती -

ज्ञानस्वभावी आत्माकी दृष्टि नहीं होती। कोई ऐसा कहे कि रागको घटाया है, परन्तु राग रहित चैतन्य कौन है ? - इसका पता ही न हो, तो उसे भी आत्माके धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। जो आत्माको समझे ही नहीं व केवल राग घटाए, उसे भी धर्म नहीं होता; और मात्र ज्ञानकी बातें करे व रागका अभाव न करे तो उसे भी आत्म प्राप्ति नहीं होती - धर्म प्रकट नहीं होता। ।।७।।

जो क्षण-क्षणमें अनुकूलता-प्रतिकूलताके संयोगोमें हर्ष-शोकका वेदन किया करते हैं, उनको कषाय मंदता भी नहीं। उनको तो आत्मा कैसा है - ऐसी जिज्ञासा होनेका भी अवकाश नहीं है; क्योंकि उनकी क्षणिककी रुचि तो छूटती नहीं। जिसे राग घटनेके प्रसंगकी ही खबर नहीं, उसको कभी भी रागका अभाव नहीं होता। ।।८।।

सम्यग्दर्शन पर्याय अनादिसे नहीं होती, मिथ्यादर्शनादिकी पर्याय भी अनादिकी नहीं होती; मिथ्यादर्शनादिकी पर्यायें तो प्रवाहरुपसे अनादिकी हैं। जो निजस्वरूपसे विमुख होकर, पर में रुचि करते हैं - वे मिथ्यादृष्टि हैं। स्व-परके यथार्थ स्वरूपसे विपरीत श्रद्धानका नाम ही मिथ्यात्व है। स्व अर्थात् चेतन - उसका ज्ञान-दर्शनरूप ही यथार्थ है। पुण्य-पापका रूप विकार है। जड़ अपने द्रव्य-गुण-पर्यायरूप है - ऐसा न मानकर, राग व जड़को निज स्वरूप मानना ही मिथ्यात्व है। लोगोंको मिथ्यात्वरूपी भयंकर पापका ख्याल ही नहीं आता।।।९।।

जो आत्म स्वभावका अनादर कर परवस्तुसे सुख

पाना चाहता है - वह जीव घोर पापी है। अंतरमें महान चैतन्य निधि विराजमान है, उसका तो आदर नहीं करता व जड़में सुख मानता है - ऐसे जीवके भले ही बाह्यमें लक्ष्मीके ढ़ेर हों, परन्तु भगवान उसे पापी कहते हैं; तथा देहसे भिन्न चिदानन्द स्वभावका भान करनेवाला चाहे छोटा मेढ़क ही हो तो भी वह, पुण्यजीव है; वह जीव अल्पकालमें ही मोक्ष चला जाएगा। शुभभाव से हमें लाभ होगा, शरीरकी क्रियासे धर्म होगा -- ऐसा माननेवाला जीव भी पापी है। जिसे अन्तरमें परसे भिन्न चैतन्यका भान नहीं है, उसके भेदज्ञानके अभावमें, पाप - जड़का नाश नहीं होता - इसलिए वह पापीजीव है। चाहे बड़ा राजा ही हो पर यदि उसे भिन्न चैतन्यका भान नहीं तो उसके पापका मूल कायम ही है, अतः वह पापीजीव है। भेदज्ञान-बिना (पापका) मूलका नाश नहीं होता।

।।१०।।

अज्ञानीजीव की पराधीन दृष्टि होनेसे शास्त्रोंमें से भी वैसा ही आशय उद्धृत कर, शास्त्रोंको अपनी मान्यतानुकूल आशयवाला बनाना चाहते हैं; परन्तु शास्त्रोंमें वैसा आशय ही नहीं है। गुरुगम-बिना, स्वच्छंदीत होनेवाला जीव - शास्त्रोंका अर्थ उल्टा ही करता है। **।।११।।**

जगतमें जितने भी उपद्रवके कारण होते हैं वे सब रौद्रध्यानयुक्त पुरुषसे ही बनते हैं। जो पाप कर, उल्टा हर्ष करते हैं - सुख मानते हैं उनके धर्मोपदेश निष्फलित ही होता है। वे तो मूर्छित समान अति प्रमादी होकर पापमें

ही मस्त रहते हैं। **।।१२।।**

शरीर कोई संसार नहीं है, स्त्री, कुटुम्ब, पैसा संसार नहीं है, और कर्म भी संसार नहीं है। यदि शरीर ही संसार हो, तो उसके जल जाने पर संसार भी जलकर राख हो जाए व मुक्त हो जाए; परन्तु ऐसा नहीं होता। स्त्री-पुत्रमें भी संसार नहीं है। आत्माका संसार तो आत्माकी पर्यायमें है। अज्ञानी, जो परमें संसार मानता है उसे संसारका भी पता नहीं है। तो फिर संसार रहित मोक्षकी तो उसे खबर ही कैसे हो ? -- नहीं होती है। **।।१३।।**

शरीरके पुष्ट अथवा निर्बल होने पर मैं पुष्ट या निर्बल होता हूँ - अज्ञानी ऐसा मानता है। मोटा या बारीक वस्त्र पहननेसे शरीर मोटा या पतला होता है - ऐसा नहीं मानता, पर शरीरके पतला या मोटा हो जानेसे स्वयं भी वैसा ही हो गया है ऐसा भ्रांतिसे मानता है। शरीरकी अवस्थाको आत्माकी अवस्था मानता है। ज्ञान, राग, व शरीर...इन तीनोंको एकरूप मानता है और उनमें भेद नहीं जानता। **।।१४।।**

विपरीत मान्यतामें हिंसा-झूठ-चोरी-अब्रह्मचर्य व परिग्रह - ये पाँचो ही पाप समाहित हैं। मैं अनादि-अनन्त ज्ञानवान हूँ - इसमेंसे प्रवर्तित ज्ञानपर्यायकी सामर्थ्यको जो नहीं मानता तथा मैं परको जानता हूँ - ऐसा मानता है वह स्वयंके अस्तित्वको ही उड़ाता है। **।।१५।।**

धर्म अर्थात् वस्तु स्वभाव। तेरा स्वभाव अनादि अनन्त है। तेरी पर्याय तेरे ही अस्तित्वमें है - ऐसा मानने पर यह

तय होता है कि राग स्वयंके कारणसे, अपनी ही निर्बलतासे होता है और तभी राग दूर होनेकी सम्भावना होती है। और ऐसा माने कि ज्ञान स्वयंसे है तो ज्ञान - स्वभावकी ओर ढलनेका अवकाश होता है। अज्ञानीको, न तो अपने ज्ञानकी खबर है और न ही निर्बलतासे होनेवाले रागकी, अतः संसारमें धक्के खाता है। ।।१६।।

किसी भी परद्रव्यमें शक्ति नहीं है कि जीवको संसारमें भटकाए। स्वयं अपनी ही भूल से भटकता है तब कर्म निमित्त होते हैं। जीव, स्वयं अपनी ही भूलसे भटकता है व स्वयं अपनी ही समझसे मुक्ति पाता है। कोई परद्रव्य उसके संसार अथवा मोक्षका कारण नहीं है। ।।१७।।

प्रश्न :- सम्यग्दृष्टि भी परद्रव्योंको बूरा जानकर उनका त्याग करता है ?

उत्तर :- सम्यग्दृष्टि परद्रव्योंको बूरा नहीं जानता, वह तो अपने रागभावको ही बूरा जानता है। स्वयं राग-भावको छोड़ता है, तब उसके कारणोंका भी त्याग हो जाता है। वस्तु विचारणामें तो कोई भी परद्रव्य भला-बूरा नहीं है। परद्रव्य तो आत्माका एकरूप ज्ञेय है। एकरूपतामें अनेकरूपताकी कल्पना कर एक द्रव्यको इष्ट तथा अन्य द्रव्यको अनिष्ट मानना, मिथ्याबुद्धि है। ।।१८।।

प्रश्न :- परद्रव्य निमित्तमात्र तो है ?

उत्तर :- परद्रव्य बलात् तो कुछ नहीं बिगाड़ता, परन्तु स्वयं अपने भाव बिगाड़े तब परद्रव्य बाह्य निमित्त है। यदि

परद्रव्यसे परिणाम बिगड़े तो द्रव्यकी परिणति स्वतंत्र नहीं रहती। स्वयं परिणाम बिगाड़े तो परद्रव्य निमित्त कहलाता है। और निमित्त बिना भी भाव तो बिगड़ते हैं - इसलिये वह नियमरूप निमित्त भी नहीं है। निमित्तके कारणसे भाव नहीं बिगड़ते। ।।१९।।

तत्व विचारकर यथार्थ तत्वनिर्णयका उद्यम न करे, वह जीव सम्यक्त्वका अधिकारी नहीं है। ।।२०।।

पुण्यभावको अच्छा समझे व पापभावको बूरा जाने - यह तो बंध-तत्वकी समझमें ही भूल है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र सुखरूप होने पर भी दुःखरूप लगते हैं सो संवर-तत्व विषयक भूल है। आत्मामें शांतिरूप चारित्रदशा सुखरूप है, उसे जो अज्ञानी दुःखरूप तथा बालूरेतके ग्रास (निवाला) के समान मानता है उसे संवरतत्वका पता नहीं है। धर्म, दुःखदायक नहीं परन्तु सुखरूप ही होता है। अज्ञानी, वीतराग धर्मको दुःखरूप मानकर उसकी असातना करता है। ।।२१।।

हम सच मानेंगे तो हमारा लोक-व्यवहार नहीं रहेगा - ऐसा विचार छोड़ दें। मृत्यु होने पर दुनिया साथ नहीं आएगी। स्त्री-सेवनके पाप व मांस खानेके पापसे भी मिथ्यात्वका पाप अनन्तगुणा भयंकर है। सुदेवको कुदेव मानना व कुदेवको सुदेव मानना, कुगुरुको गुरु मानना, कुशास्त्रको शास्त्र मानना आदि प्रकारकी मिथ्या मान्यता, मांस-भक्षण व शिकार करनेके पापसे भी अधिक महान पाप है। सात तत्वोंकी विपरीत मान्यता महान

पाप है। लोगोंको इस पापकी भयंकरताका आभास ही नहीं है। वे तो ऐसा मानते हैं कि पर जीवकी अवस्था आत्मा कर सकता है। परंतु जगतमें सात तत्वकी विपरीत मान्यता व कुदेवादिको मानने समान भयंकर अन्य कोई पाप नहीं है। ।।२२।।

प्रश्न :- मिथ्याज्ञानमें निमित्तकारण क्या है ? जीव स्वयं मिथ्याज्ञान करता है। निजस्वरूपके यथार्थज्ञान बिना मिथ्याज्ञान करता है - उसमें कौनसा कर्म निमित्त है ?

समाधान :- "आत्मा ज्ञानानंद है" -- उसे भूलकर परमें लाभ मानता है - ऐसे मोहभावमें मोहकर्म निमित्त है। कर्म, कोई मोह नही करवाता परन्तु जीव स्वयं मोह करता है तब कर्म निमित्त कहलाता है। ऐसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता अतः यह मान्यता ही मिथ्याज्ञानका कारण है। ।।२३।।

मेरा द्रव्यस्वभाव ज्ञानस्वरूप है। उसमें द्रव्यके अवलंबनसे सम्यक्पर्याय प्रकट होती है। ऐसी प्रयोजनभूत बातको मिथ्यादृष्टि लक्ष्यमें नहीं लेता। मिथ्यादृष्टिका तो प्रयोजनभूत व अप्रयोजनभूत - दोनों ही प्रकारके पदार्थोंको जाननेका क्षयोपशम है परन्तु उसका प्रयोजनभूत तत्वको जाननेमें लक्ष्य नहीं जाता - ऐसा दर्शनमोहका कारण है। आखिर क्षयोपशमज्ञान तो क्षयोपशम ज्ञान ही है। विपरीतश्रद्धा के कारण अज्ञानीका ज्ञान मिथ्याज्ञान है। ।।२४।।

आत्मा केवल ज्ञायक है; उस स्वभाव का नहीं रुचना, नहीं सुहाना, उसका नाम क्रोध है। 'अखण्ड चैतन्यस्वभाव वह

मैं नहीं हूँ' इस प्रकार स्वभाव की अरुचि - स्वभाव का नहीं सुहाना वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है। वस्तु अखण्ड है, सब भंगभेद अजीव के सम्बन्ध से दिखाई देते हैं। दृष्टि में उस अखण्ड स्वभाव का पोषण न होना वह क्रोध है; परपदार्थ के प्रति अहंबुद्धि वह अनन्तानुबन्धी मान है; वस्तु का स्वभाव जैसा है वैसा न मानकर, वक्रता करके दूसरी तरह मानना उसका नाम अनन्तानुबन्धी माया है; स्वभाव की भावना से च्युत होकर विकार की इच्छा करना वह अनन्तानुबन्धी लोभ है। ।।२५।।

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

२

पात्रता

`जो जीव निश्चय की उपासना करने को कटिबद्ध हुआ है, उसकी परिणति में पहले की अपेक्षा वैराग्य की अत्यन्त वृद्धि होती जाती है। उसे दोषों का भय होता है, अकषायस्वभाव को साधने में तत्पर हुआ, वहाँ उसके कषाय शांत होने लगते हैं। उसकी कोई प्रवृत्ति या आचरण ऐसे नहीं होते कि रागादि का पोषण करें। पहले रागादि की मन्दता थी उसके बदले अब रागादि की तीव्रता हो तो वह स्वभाव की साधना के समीप आया है ऐसा कैसे कहा जाये ? अकेला ज्ञान-ज्ञान करता रहे किन्तु ज्ञान के साथ राग की मन्दता होनी चाहिये, धर्मात्मा के प्रति विनय-बहुमान-भक्ति-नम्रता-कोमलता होना चाहिये, अन्य

साधर्मियों के प्रति अन्तर में वात्सल्य होना चाहिये, वैराग्य होना चाहिये, शास्त्राभ्यास आदि का प्रयत्न होना चाहिये.....इस प्रकार चारों ओर के सभी पक्षों से पात्रता लाना चाहिये; तभी यथार्थ परिणमता है। वास्तव में, साक्षात् समागम की बलिहारी है; सत्संग में तथा संत-धर्मात्मा की छत्रछाया में रहकर उनके पवित्र जीवन को दृष्टि समक्ष ध्येयरूप रखकर, चारों ओर से सर्वप्रकार उद्यम करके अपनी पात्रता को पुष्ट करना चाहिये।' ।।१।।

पर की ममता के भाव जिसके अंतर में पड़े हैं और निर्विकल्प होने जाये वह निर्विकल्प नहीं हो सकेगा। अभी तो नीति आदि के परिणाम भी नहीं है और निर्विकल्प होना चाहता है तो वह निर्विकल्प नहीं हो सकता। यह बात मोक्षमार्गप्रकाशक में भी कही है। **लौकिक प्रामाणिकता का भी जिसके ठिकाना न हो उसे धर्म हो जाये वह तीनकाल में नहीं हो सकता। अनीतिपूर्वक जिसे एक पैसा भी लेने के भाव हैं उसे अनुकूलता हो तो सारी दुनिया का राज्य ले लेने के भाव हैं।**

एक मंत्री राज्य के कार्य हेतु राज्य की मोमबत्ती जलाकर काम करता था और जब स्वयं का अपना कार्य करने लगता तो राज्य की मोमबत्ती बुझाकर अपने घरकी मोमबत्ती जला लेता था....अपने कार्य के लिये राज्य की मोमबत्ती का उपयोग नहीं करना चाहिये। (ऐसा तो पहले नीतिमय जीवन होता था) ।।२।।

सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है कि शुद्ध निश्चयनय से मैं मोह-राग-द्वेष रहित शुद्ध हूँ। इससे सम्यग्दृष्टि को ऐसा नहीं लगता कि शुभ और अशुभ दोनों समान है इसलिये अशुभ भले आये ? **सम्यग्दृष्टि अशुभ से बचने के लिये पठन, श्रवण, विचार, भक्ति आदि करता है। प्रयत्न से भी अशुभ छोड़कर शुभ करो ऐसा शास्त्र में उपदेश आता है। शुभ और अशुभ परमार्थतः समान हैं तथापि अपनी भूमिकानुसार अशुभ की अपेक्षा शुभमें रहने का विवेक होता है और वैसा विकल्प भी आता है।** ।।३।।

इसे सुनने की पात्रता होना चाहिये। श्री पुरुषार्थसिद्धि-उपाय की गाथा ७४ में कहा है कि जिनवाणी को श्रवण करने की पात्रतावाले को त्रस जीवों का आहार नहीं होता। मधु, मदिरा, दो घड़ी के बाद का मक्खन, मांस और पाँच उदम्बर फलों का आहार नहीं होता। **जिसे ऐसा आहार हो वह यह बात सुनने का भी पात्र नहीं है। वास्तव में तो रात्रिभोजन में भी त्रसहिंसा होती है। यह बात सुननेवालों को त्रस जीवों का आहार नहीं होता भाई ! रात्रिभोजन भी नहीं होता।** जिसमें त्रस जीव मरें ऐसा मांस जैसा आहार यह सुननेवाले को नहीं होता भाई ! इस तत्व का श्रवण करना हो तो जिसमें त्रस जीवों की उत्पत्ति हो वह आहार नहीं लेना। त्रस जीव उत्पन्न हों ऐसे अचार-मुरब्बे आदि भी नहीं खाना चाहिये। इन्द्र जिसका श्रवण करते हैं ऐसी परमात्मा की उत्कृष्ट वाणी सुननेवाले को त्रस की उत्पत्तिवाला आहार

नहीं होता। **बातें बड़ी-बड़ी करे और त्रस का आहार हो, अरेरे ! भले ही वह धर्म नहीं है, वह हेय है, परन्तु यह सुननेवालेको त्रसका आहार नहीं होता। यह पहले में पहली पात्रता है ऐसा श्री पुरुषार्थसिद्धि-उपाय की गाथा ६१ तथा ७४ में कहा है।** ।।४।।

यह तत्व की बात ऊपरी मन से सुन लेने से नहीं बैठ सकती, उसके लिये अभ्यास चाहिये।

श्रोता :- अभ्यास यानी क्या करना ?

पूज्य गुरुदेव :- शास्त्र-स्वाध्याय, श्रवण, सत्समागम करना चाहिये।

श्रोता :- यह सब अभ्यास सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये अकिंचित्कर है न ?

पूज्य गुरुदेव :- भले ही सम्यग्दर्शन आत्मा के लक्ष्य से ही होता है तथापि स्वाध्याय, श्रवण, सत्समागम आदि का विकल्प आता ही है, भले ही उसमें परलक्षी ज्ञान निर्मल होता है। शास्त्र में अनेक स्थानों पर आता है कि आगम का अभ्यास करना, स्व के लक्ष्य से आगम का अभ्यास करना चाहिये। जिसे आत्मा की आवश्यकता हो उसे आत्मा बतलाने वाले ऐसे देव-शास्त्र-गुरु के समागम का विकल्प आता ही है। ।।५।।

चौरासी का भ्रमण छुड़ानेवाली, त्रिलोकीनाथ की वाणी सुनने आये उसे देव-शास्त्र-गुरु की कितनी विनय चाहिये ? स्वर्ग से आकर इन्द्रादि देव भगवान की वाणी

कितनी विनय, भक्ति और नम्रता से सुनते हैं ! जिनवाणी का श्रवण करते समय शास्त्र की विनय और बहुमान करना चाहिये। शास्त्र को नीचे नहीं रखा जाता, उस पर कुहनी नहीं टेकी जाती, पैर पर पैर चढ़ाकर शास्त्रश्रवण के लिये नहीं बैठा जाता, रूमाल या पन्ने आदि से हवा नहीं की जाती, जम्हाइयाँ नहीं ली जाती, प्रमाद से बैठा नहीं जाता आदि कितनी विनय-बहुमान-भक्ति हो तब तो जिनवाणी-श्रवण की पात्रता है। व्यवहार-पात्रता जैसी है वैसी जानना चाहिये। ।।६।।

प्रत्येक आत्मा भगवानस्वरूप है, प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप चैतन्य रसकन्द है। आहा..हा...! **इस समय वर्षाऋतु में तो हरी घास बहुत है, उसपर बिना कारण पाँव रखकर कुचलते हुए चलना वह नहीं होना चाहिये भाई** ! उस एक सूक्ष्म टूकड़े में असंख्यात जीव हैं, वे सब भगवानस्वरूप हैं। **।।७।।**

जैसे मिट्टीके कोरे पात्रमें पानीकी बूँद पड़ने पर पानी चुस जाता है दिखाई नहीं देता, परन्तु अधिक पानी गिरनेसे बाहर दिखता है, वैसे ही यह परमात्मतत्वकी बात सुनते-सुनते मैं ज्ञायक हूँ... ज्ञायक हूँ.... ऐसे द्रढ संस्कार डाले तो मिथ्यात्व भावका रस मन्द पड़ता जाता है। **अभी भूमिका मिथ्यात्व की है, परन्तु मिथ्यात्वका अभाव होनेके संस्कार पड़ते जाते हैं।** शुभ भावोंसे तो मिथ्यात्वका रस भव्य-अभव्यको अनन्तबार मन्द पड़ा है, परन्तु इस ज्ञायकके संस्कारोंसे मिथ्यात्वभाव का अभाव होनेके संस्कार पड़ने पर एकदम स्वभावका आश्रय लेने

पर स्वानुभव होनेसे मिथ्यात्वका अभाव होता है। **।।८।।**

धर्मधूरंधर योगीन्द्रदेव पुकारते हैं कि अरे आत्मा ! तू परमात्मा समान है तथापि तू जिन में और अपने में क्यों अन्तर करता है? अन्तर करेगा तो फिर वह अन्तर कब छूटेगा ? इसलिये कहते हैं कि मैं तो राग सहित अल्पज्ञता युक्त हूँ ऐसा मनन मत करो, किन्तु जो जिनेन्द्र हैं सो ही हम हैं ऐसा चिन्तन करो ! **अरेरे ! मैं अल्पज्ञ हूँ, मुझ में क्या ऐसी शक्ति हो सकती है? -यह बात रहने दो भाई ! मैं पूर्ण परमात्मा होने योग्य हूँ - ऐसा नहीं, किन्तु वर्तमान में पूर्ण परमात्मा हूँ -ऐसा मनन करो** ! **आहा..हा...!** **।।९।।**

अहो ! मैं ही तीर्थंकर हूँ, मैं ही जिनवर हूँ, मुझ में ही जिनेश्वर होने के बीज पड़े हैं; परमात्मा का इतना उल्लास.....कि मानो परमात्मा से मिलने जा रहा हो। परमात्मा बुलाते हों कि-आओ !.....आओ !.....चैतन्यधाम में आओ ! आहा..हा...! चैतन्य का इतना आह्लाद और प्रह्लाद होता है, **चैतन्य में अकेला आह्लाद ही भरा है, उसकी महिमा, माहात्म्य, उल्लास, उमंग असंख्य प्रदेशों से आना चाहिये।** **।।१०।।**

मैं सिद्ध समान ही हूँ, तथा अरिहंत समान ही हूँ **- ऐसे विश्वास में शुद्ध अस्तित्व का जोर है।** जैसे अरिहंत सिद्ध हैं वैसा ही मैं हूँ, इस प्रकार दो की समानता में शुद्ध अस्तित्व के विश्वास का बल है। **।।११।।**

मैं ज्ञायक हूँ....ज्ञायक हूँ....ज्ञायक हूँ-ऐसा रटन अंतर में रखना, ज्ञायक के सन्मुख ढलना, ज्ञायक के सन्मुख एकाग्रता करना। आहा..हा...! उस पर्याय को ज्ञायकोन्मुख करना अति कठिन है, उसके लिये अनंत पुरुषार्थ की आवश्यकता हैं, ज्ञायकतल में पर्याय पहुँच गई आहा..हा...! उसकी तो क्या बात है। ऐसा पूर्णानन्द प्रभु ! उसकी प्रतीति में, उसके विश्वास में, भरोसे में, आना चाहिए कि अहा ! **एक समय की पर्याय के पीछे इतना बड़ा भगवान ! वह मैं ही हूँ।।१२।।**

सिद्ध भगवान में जैसी सर्वज्ञता, जैसी प्रभुता, जैसा अतीन्द्रिय आनंद तथा जैसा आत्मवीर्य है वैसी ही सर्वज्ञता, प्रभुता, आनंद और वीर्य की शक्ति तेरे आत्मा में भी भरी ही है। भाई ! एक बार हर्षित तो हो कि अहो ! मेरा आत्मा ऐसा परमात्मस्वरूप है, ज्ञानानन्द की शक्ति से भरा है, मेरे आत्मा की शक्ति का घात नहीं हुआ है। **अरे रे ! मैं हीन हो गया, विकारी हो गया.... अब मेरा क्या होगा। ऐसे डर मत, उलझन में न पड़, हताश न हो..... एक बार स्वभाव की महिमा लाकर अपनी शक्ति को स्फुरित कर। ।।१३।।**

भाई ! तू विश्वास ला कि मेरे स्वभाव के आनंद के समक्ष सारी प्रतिकूलता और सारी दुनिया विस्मृत हो जाय ऐसी अद्भुत वस्तु मैं हूँ। मैं वर्तमान में परमात्मा ही हूँ, **मुझ में और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है-ऐसा विश्वास आने पर अन्तर छूट जायगा और पर्याय में परमात्मापना प्रगट हो जायगा। ।।१४।।**

जिसने एक बार प्रसन्न चित्त से चैतन्यस्वभाव को लक्षगत किया फिर वह निर्वाण का ही पात्र है। निश्चय पक्ष लिया उस पुरुष को भले ही अभी अनुभव नहीं है तथापि उसका जोर चैतन्यस्वभाव की ओर है। **यही स्वभाव है... यही स्वभाव है... इस प्रकार स्वभाव सन्मुख का ही जोर होने से अनुभव अवश्य ही केवलज्ञान प्राप्त करेगा। ।।१५।।**

काल आने पर वर्षा होती है, वृक्ष अंकुरित होते हैं, चन्द्र खिलता है, पशु-पक्षी घर लौटते हैं, स्वातिनक्षत्र के काल में सीप में पानी की बूँद जाने पर मोती बन जाती है, उसी प्रकार उत्तम **देव-गुरु के महान योगकाल में तू आया और पूज्य पदार्थ अनुभव में न आवे वह तो अजब तमाशा है ! ।।१६।।**

जिसे धर्म करना हो, जिसे सम्यग्दर्शन लेना हो उसे पाँच इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा तथा धन कमाने की अभिलाषा रूपी पापभाव तथा दया-दान-व्रतरूप पुण्यभाव को एक बार दृष्टि में से छोड़ना होगा। **राग होने पर भी उसकी ममता छोड़ ! वे मेरे लिये अकिंचन है-** मेरे लिए किंचित् मात्र नहीं हैं, मैं तो पूर्णानन्द का नाथ हूँ; राग का अंशमात्र मेरा नहीं है -इस प्रकार दृष्टि में से धर्म-अर्थ-काम रूपी भाव की ममता छोड़ दे और ज्ञानस्वरूपी भगवान को ज्ञान परिणति से जान इसके बिना तीन काल में भी आत्मा जानने

में नहीं आयेगा। ।।१७।।

आहा ! सहज ज्ञायक निजतत्व को समझने का निर्णय और अनुभव करने का अवसर मनुष्य भव में प्राप्त हुआ है। जिस प्रकार चिन्तामणि की प्राप्ति दुर्लभ है उसी प्रकार निगोद से निकलकर त्रस पर्याय की प्राप्ति भी अति दुर्लभ है। एक शरीर में अनन्त जीव, उनके ज्ञान का विकास अक्षर के अनन्तवें भाग, उनके दुःखों का वेदन वे स्वयं करते हैं और केवली जानते हैं। एक श्वासप्रमाण काल में अठारह बार जन्म-मरण करते हैं - इस प्रकार जीव अनन्तान्त काल तक निगोद के भव में जन्म-मरण के दुःख भोगते हैं। **वहा से कोई जीव बाहर निकलकर चिन्तामणी तुल्य दुर्लभ त्रसपर्याय पाता है। भाई ! मनुष्यभव प्राप्त हुआ उसका मूल्य तेरी समझ में नहीं आता ! मनुष्य भव विषय-भोग, व्यापार-धंधा और पाप के लिये नहीं है।** ।।१८।।

वस्तु तो अजीव और आस्त्रव रहित है अब, उसकी जो दृष्टि पर्याय पर है उसे द्रव्य पर ले जाना है इतनी - सी बात है। वस्तु में तो अजीव और आस्त्रव हैं ही नहीं। पर्याय पर उसकी दृष्टि है उसे द्रव्य पर लगाना है। **`पर्याय सो मैं नहीं' - ऐसा नहीं, किन्तु पर्याय ही भीतर ध्रुव पर जाये तब दृष्टि बदलेगी।** पर्याय ध्रुव पर गई है उसे स्वयं को कब विश्वास होगा ? कि जब ध्रुव पर पर्याय जाने से आनंद का अनुभव हो, अर्थात् उसका फल आये तो ध्रुव पर उसकी पर्याय गई है उसका स्वयं को विश्वास होता है।

पर्याय के ऊपर तो उसकी दृष्टि अनादि से है ही, अब द्रव्य के ऊपर दृष्टि ले जाये - वह करना है। लाख बात की बात यह है ! ।।१९।।

मति-श्रुतज्ञान की पर्याय जिस ओर झुकी है उसे प्रथम श्रुतज्ञान के सामर्थ्य द्वारा ज्ञानस्वभावी आत्मा का दृढ़ निर्णय कर के, अंतर में जहाँ परमात्मस्वरूप प्रभु विराजमान है वहाँ मोड़, उसके सन्मुख कर, ऐसा करने से तुझे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होगा। भाई ! प्रथम तो भव का डर होना चाहिये। भवभीरु जीव को ज्ञानी गुरु कहते हैं कि भाई ! तुम्हारी वस्तु पुण्य-पाप के विकल्पों से रहित ऐसी की ऐसी अन्दर विद्यमान है। एकबार प्रसन्न होकर देख कि आहा ! ऐसी वस्तु मैंने कभी दृष्टि में ही नहीं ली। **पर्याय के निकट अन्दर प्रभु विराजमान है वहाँ दृष्टि को - मति-श्रुत की पर्याय को ले जा, त्रिकाली ध्रुव को ध्येय बना तो तुझे आत्मा के दर्शन होगें और विस्मय होगा कि- `ओहो ! यह मैं ?' ऐसे आत्मदर्शन के लिये मैंने कभी भी वास्तविक कुतूहल नहीं किया।** ।।२०।।

कोई व्यक्ति हाथी या घोड़े का रूप लेकर आये, वेश-परिवर्तन करे तो देखनेवालों को कौतूहल उत्पन्न होता है; परंतु जीव ने अपने त्रैकालिक ज्ञायक भगवान के दर्शन हेतु कभी सच्चा कौतूहल ही नहीं किया। कौतूहल अर्थात् कौतुक, जिज्ञासा, आश्चर्य, महिमा। आहा ! राग के परदे की ओट में भीतर यह त्रिलोकीनाथ ज्ञायक सम्राट कौन है ?

क्या वस्तु है उसे प्रेमपूर्वक देखने का सच्चा कौतूहल ही जीव ने कभी नहीं किया; वर्तमान पर्याय में त्रैकालिक ध्रुव प्रभु की विस्मयता कभी नहीं आई। ।।२१।।

रोग के काल में रोग हुए बिना रहेगा ही नहीं। स्वर्ग से इन्द्र उतर आयें तब भी रोग हुए बिना नहीं रहेगा ! तथा राग के काल में राग भी हुए बिना नहीं रहेगा ! अब तुझे दृष्टि कहाँ करना है ? स्वभाव पर दृष्टि करना ही संतोष एवं शान्ति का उपाय है। ।।२२।।

रागमिश्रित निर्णय से निर्विकल्प नहीं होता परन्तु निर्विकल्प होने से पूर्व विकल्प से कैसा निर्णय करता है वह कहते हैं। पहले क्या करता है ? - सर्वप्रथम रागमिश्रित विचार से निर्णय करता है कि मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ। सर्वज्ञदेव द्वारा कहे गये परमागम से निर्णय करता है कि ज्ञान सो मैं हूँ। गुरु के पास सुनकर निर्णय करता है कि ज्ञान सो मैं हूँ। अभी सम्यग्दर्शन नहीं हुआ है परन्तु सम्यग्दर्शन प्रगट करना है ऐसा उत्कंठावान - आँगन में खड़ा हुआ जीव प्रथम ऐसा निर्णय करता है कि दया-दान के भाव विकार हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं हैं। मैं तो ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ, अनादि-अनन्त ज्ञातास्वभावी हूँ - ऐसा विकल्प वह भी मैं नहीं हूँ। मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ - प्रथम विकल्प द्वारा ऐसा निर्णय करता है। ।।२३।।

श्रोता :- आत्मा की महिमा कैसे आये ?

पूज्य गुरुदेव :- आत्मवस्तु ज्ञानस्वरूप है, ज्ञायक है,

वह अनन्त गुणों का पिण्ड है, वह पूर्णतत्व त्रैकालिक अस्तिरूप है, उसका स्वरूप, उसका सामर्थ्य अगाध एवं आश्चर्यकारी है, उसे समझे तो आत्मा की महिमा - माहात्म्य आये और राग का माहात्म्य छूट जाये। आत्मवस्तु कैसी अस्तित्ववान है, कैसी-कैसी सामर्थ्यवान है, उसका स्वरूप रुचिपूर्वक ध्यान में ले तो उसका माहात्म्य आये और राग का तथा अल्पज्ञता का माहात्म्य छूट जाये। एक समय की केवलज्ञान पर्याय तीनकाल-तीनलोक को जानने के सामर्थ्यवाली है, वह भी प्रतिक्षण नई-नई होती है तो उसे धारण करनेवाले त्रैकालिक द्रव्य का सामर्थ्य कितना ? इसप्रकार आत्मा के आश्चर्यकारी स्वभाव को प्रतीति में ले तो आत्मा की महिमा आये। ।।२४।।

अपनी भूमिका के योग्य होनेवाले विकारी भावोंको जो छोड़ना चाहता है, वह अपनी वर्तमान भूमिका को नहीं समझ सका है; इसलिए उसका ज्ञान मिथ्या है, और जिसे वर्तते हुए विकारीभावों का निषेध नहीं आता परन्तु मिठास का वेदन होता है तो वह भी वस्तुस्वरूप को नहीं समझा है, इसलिये उसका ज्ञान भी मिथ्या है। ज्ञानी को राग रखने की भावना तथा राग को टालने की आकुलता नहीं होती। ।।२५।।

जिसने अन्तर में आराधना की उसे भगवान का विरह नहीं है। अरे ! हमारा भगवान हमारे पास है। हमारी भगवान से भेंट हुई है, हम भगवान ही हैं। आहा..हा...! पंचमकाल के मुनियों ने अपूर्व कार्य किये हैं। यहाँ से स्वर्ग में गये

हैं और वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष में जायेंगे। पंचमकाल में भरतक्षेत्र में उत्पन्न हुए इसलिये एकाध भव शेष रह गया है, महाविदेहक्षेत्र से तो उसी भव में मोक्ष जाते हैं। छह महिना और आठ समय में छह सौ आठ जीव मोक्ष जाते हैं और उतने ही जीव निगोद से निकलते हैं, बाकी तो ज्यों के त्यों निगोद में पड़े रहते हैं। जब देखो तब निगोद के एक शरीर में रहे हुए जीवों के अनन्तवें भाग ही मोक्ष जाते हैं। आहा..हा...! उस निगोद से निकलकर ऐसा मनुष्य भव प्राप्त हुआ और भगवान की वाणी मिली यह तो धन्य भाग्य है, महा पुण्य का ढेर हो.....मेरु समान पुण्य की राशि हो तब ऐसा योग मिलता है। अब कार्य कर लेना वह उसके हाथ की बात है। भाई ! ऐसे अपूर्व काल में तू अपना कार्य कर ले। ।।२६।।

मुमुक्षु को सत्समागम आदि का शुभभाव आता है, परन्तु साथ ही साथ भीतर शुद्धता का ध्येय - शोधकवृत्ति-चलती रहती है। जो शुद्धात्मा को ध्येयरूप नहीं करता और कहता है कि पर्याय में चाहे जितनी अशुद्धता हो उससे मुझे क्या ? -इस प्रकार स्वच्छन्द रूप से वर्तता है वह शुष्कज्ञानी है। मुमुक्षु जीव शुष्कज्ञानी नहीं हो जाता, हृदय को भीगा हुआ रखता है। श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि -`कोई क्रिया जड़ हो रहे शुष्क ज्ञान में कोई'.....अनेक जीव राग की क्रिया में जड़ जैसे हो रहे हैं और अनेक जीव ज्ञान के विकार की बातें करते हैं, वे भीतर परिणामों में स्वच्छन्द सेवन करनेवाले

निश्चयाभासी हैं। **चाहे जैसे पाप के भाव हों उसकी परवाह नहीं करते वे स्वच्छन्दी हैं, स्वतंत्र नहीं।** जिसे पाप का भय नहीं है, पर से तथा राग से उदासीनता नहीं आई है वह जीव रूखा-शुष्क ज्ञानी है। भाई ! पाप का सेवन करके नरक में जायेगा, तिर्यंचगति मिलेगी। प्रकृतिके नियमसे विरुद्ध चलेगा तो प्रकृति तुझे छोड़ेगी नहीं। इसलिये हृदय को भीगा हुआ-कोमल रखना, शुष्कज्ञानी नहीं हो जाना। आहा ! बड़ा कठिन काम है भाई ! ।।२७।।

श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार तो कर कि यह ज्ञानस्वरूप चैतन्य ही मैं हूँ। जिसकी रुचि आत्मा में जम गई है, ज्ञानस्वरूप ही हूँ ऐसा रुचि में बैठ गया है, वह काम करके आगे बढ़ जायेगा और जिन्हें यह परम सत्य नहीं बैठेगा वे पीछे रह जायेंगे। आत्मा समझने के लिये तो राग की कुछ मंदता होना चाहिये, राग की तीव्रता में तो आत्मा समझ में नहीं आता इसलिये राग की मंदता को व्यवहार कहा जाता है। ।।२८।।

अरे ! ऐसी सत्य बात थी ही कहाँ ? जिन्हें यह सत्य बात सुनने को मिली है वे भाग्यशाली हैं। सुन-सुनकर सत्य के संस्कार डालता है उसे संस्कार डालने पर भीतर से मार्ग हो जायेगा। प्रतिदिन चार-पाँच घन्टे तक यही सुनना-पढ़ना हो उसे शुभभाव ऐसे होते हैं कि मरकर स्वर्ग में जाये, कोई-कोई जुगलिया हों, कोई महाविदेह में जायें! बाकी जिनको सत्य का श्रवण भी नहीं है ऐसे अनेक जीव तो मरकर पशुगति

में जायेंगे। अरे ! ऐसा महँगा मनुष्यभव प्राप्त हुआ और अपना हित नहीं किया तो कब करेगा ? वास्तव में तो सत्य का प्रतिदिन चार-पाँच घन्टे तक पठन-श्रवण आदि होना चाहिए भले ही व्यापार-धन्धा करता हो परन्तु इतना समय तो अपने लिये निकालना चाहिए। यहाँ के श्रवण करनेवाले अनेक तो रुचिपूर्वक यह संस्कार गहरे डालते हैं। ऐसे सत्य के संस्कार पड़ जायें और जीवन में उतर जायें तो उसे अधिक भव नहीं होते। **धारणाज्ञान होना भिन्न वस्तु है और अन्तर में अव्यक्त रुचि होना वह भिन्न वस्तु है।** भेदज्ञान के संस्कार गहराई से डालना चाहिये। इस बात की गहराई से महिमा आना चाहिये कि अहो ! यह कोई अपूर्व बात है ! इस प्रकार स्वयं से अंतर में महिमा आना चाहिए। सच्ची रुचिवाला आगे बढ़ता जाता है। ।।२९।।

आत्मा अतीन्द्रिय आनंद का नाथ प्रभु है, उसके अतीन्द्रिय आनन्द की उत्कंठा जागृत हो उसे आत्मा के सिवा अन्य कुछ रसप्रद नहीं लगता, जगत के पदार्थों का रस नीरस हो जाता है, संसार के राग का रस उड़ जाता है। अहो ! जिसकी इतनी-इतनी प्रशंसा होती है वह आत्मा अनंतानंत गुणों का पुंज प्रभु है कौन ? ऐसा आश्चर्य हो, उसकी लगन लगे, उसकी धून चढ़े उसे आत्मा मिलेगा ही, नहीं मिले ऐसा हो ही नहीं सकता। **जितना कारण दे उतना कार्य आता है। कारण दिये बिना कार्य नहीं आता। कारण में कचाश होने से कार्य नहीं आता।** आत्मा के आनंदस्वरूप की अंतर से

सच्ची लगन लगे, उत्कंठा जागे, स्वप्न में भी वह का वही रहे, उसे आत्मा प्राप्त होगा ही। ।।३०।।

अंतर में ज्ञायकदेव की महिमा आये तब समस्त संसार का रस छूट जाता है और तभी भगवान आत्मा समीप आता है। भाई ! यह तो भगवान की कथा है, भागवत् कथा ! निज ज्ञायक भगवान को बतलानेवाली है और वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा कही गई है इसलिये यह भागवत् कथा है। अनंत अगाध शक्तियों के धारक ऐसे निज अभेद चैतन्यस्वरूप का रस लगे उसको संसार का रस छूट जाता है -विषय की वासना से सुखबुद्धि उड़ जाती है। अंतर में जहाँ अतीन्द्रिय आनंद के नाथ की - आनंदस्वरूप निज ज्ञायक प्रभु की - महिमा आई, दृष्टि में उसका स्वीकार और सत्कार हुआ वहाँ शुभभाव की महिमा भी उड़ जाती है। ज्ञानी को व्रतादि के शुभ परिणाम में भी राग और दुःख लगता है, उसमें से सुखबुद्धि उड़ जाती है। ।।३१।।

अहो ! ज्ञानस्वभाव का माहात्म्य कितना है ! सामर्थ्य कितना है ! उसकी जगत को खबर नहीं है। आकाश के अनन्त प्रदेश हैं उनमें यहाँ से (किसी स्थान से) उनकी गिनती करने पर आकाश का अन्तिम प्रदेश कौनसा ? उसका अंत है ही नहीं। काल के अनन्त समय हैं उनमें वर्तमान समय से गिनने पर काल का अन्तिम समय कौनसा ? उसका अन्त है ही नहीं। उसी प्रकार द्रव्य अनन्त हैं उनकी गिनती करने पर अन्तिम द्रव्य कौनसा ? उसका अन्त है ही नहीं। उसी

प्रकार एक जीव द्रव्य के ज्ञान-दर्शनादि गुण भी आकाश के प्रदेशों की अपेक्षा अनन्तगुने हैं, उनमें अन्तिम गुण कौनसा? उसका अंत है ही नहीं। अहा..हा...! गजब बात है ! ज्ञान की पर्याय ज्ञेयप्रमाण है और ज्ञेय लोकालोक है, जिसका पार नहीं है ऐसे अपार अनन्तानन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को ज्ञेय बनानेवाली एक समय की ज्ञानपर्याय का सामर्थ्य कितना ? शक्ति कितनी? उस एक समय की पर्याय में अनन्तानन्त ज्ञेयप्रमाण ज्ञान की पर्याय के अविभागप्रतिच्छेद कितने ? उसका अन्तिम प्रतिच्छेद कौनसा? आहा..हा...! गजब बात है ! सिद्ध हों उनका आदि गिना जा सकता है किन्तु अन्त नहीं। सिद्ध हुए उनके भव का अंत तो आ गया परन्तु उनका पहला भव कौनसा ? अनादि है उसका प्रारम्भ है ही कहाँ ? अंत रहित द्रव्य हैं उनका अंत कैसे आये? अन्त रहित क्षेत्र है उसका अन्त आये कैसे? अंत रहित काल है उसका अन्त आये कैसे ? अन्त रहित भाव हैं उनका अन्त आये कैसे? आहा..हा...! इतने-इतने अनन्त ज्ञेय हैं उन्हें जाननेवाला ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। ऐसे अनन्त पदार्थों को श्रुतज्ञान में ज्ञेय बनाया उसकी पर्याय में विषयों का रस नहीं रह सकता। राग रह सकता है किन्तु राग का रस नहीं रह सकता। आहा..हा...! आत्मवस्तु ही कोई ऐसी चमत्कारिक है ! उसका क्या कहना भाई ! ।।३२।।

श्रोता :- यह स्वरूप लक्ष्य में आने पर भी प्रगट क्यों नहीं होता ?

पूज्य गुरुदेव :- पुरुषार्थ चाहिये भाई, पुरुषार्थ चाहिये। भीतर शक्ति पड़ी है उसका माहात्म्य आना चाहिये। वस्तु तो प्रगट ही है। पर्याय की अपेक्षा वस्तु अप्रगट कही जाती है; वैसे तो वस्तु भी प्रगट ही है, कहीं आच्छादन - ढक्कन नहीं है।

प्रथम तो वस्तु का माहात्म्य आना चाहिये, प्रतीति हो तो माहात्म्य आये - ऐसा नहीं। कुछ लोग ऐसा ले लेते हैं, परन्तु पहले माहात्म्य आये तो माहात्म्य आते-आते प्रतीति होती है। ।।३३।।

पढ़ना-सुनना आदि बाहर से सब करे, किन्तु उससे क्या? उसे स्वयं को भीतर से हाँ - स्वीकृति आना चाहिये कि राग सो मैं नहीं और ज्ञायकस्वरूप ध्रुववस्तु ही मैं - इस प्रकार उसके अस्तित्व की हाँ - स्वीकृति भीतर से आती है। स्वीकृति अर्थात् स्वभाव की प्रतीति करके हाँ आये तब उसके कल्याण का प्रारम्भ होता है। ।।३४।।

श्रोता :- आत्मा की प्रतीति नहीं हुई हो तब तक भवभ्रमण नहीं मिटेगा ?

पूज्य गुरुदेव :- प्रतीति अभी भले ही न हुई हो, परन्तु अकुलाना नहीं। जिसे स्व की रुचि - स्वोन्मुखता की लगन हुई उसे परोन्मुखता छूटती जाती है। ।।३५।।

श्रोता :- आत्मा की कैसी लगन लगना चाहिये कि छह मास में सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाये ?

पूज्य गुरुदेव :- ज्ञायक...ज्ञायक...ज्ञायक की लगन लगना

चाहिये। ज्ञायक की धून चढ़े तो छह मास में कार्य हो जाये और उत्कृष्ट लगन लगे तो अन्तर्मुहूर्त में हो सकता है। ।।३६।।

श्रोता :- सम्यग्दर्शन हेतु विशेष प्रकार की पात्रता का लक्षण क्या ?

पूज्य गुरुदेव :- उसे अपनी आत्मा का हित करने के लिये अन्तर से सच्ची अभिलाषा होती है, आत्मा को प्राप्त करने की लालसा होती है, आवश्यकता होती है, जिसे सच्ची आवश्यकता हो वह कही रुके बिना अपना कार्य करता ही है। ।।३७।।

अरेरे ! बाहर के उत्साह में आत्मा की शांति का घात करता है। आत्मा को घायल करता है। प्रभु ! एक बार सुन तो सही ! अनन्त तीर्थंकर और अनन्त केवली जो कहते आये हैं वही यह बात है ! भाई! तू कौन है ? कितना है ?-**अनन्त शक्ति का स्वामी ज्ञायक प्रभु है, उसे अनुभव में लेकर अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव करना वह निर्जरा है।** पूर्णानन्द के नाथ को ध्येय बनाकर आनंद का अनुभव कर, यही करना है, उसे करने के लिये निवृत्ति लेनी पड़ेगी। श्रीमद् राजचन्द्र तो कहते हैं कि मुमुक्षु को आजीविका मिलती हो तो विशेष प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये। करने जैसा तो यह है। अरे ! चौरासी लाख योनियों के अवतारों में कही पता नहीं चलेगा। उस दुःख से छूटने का मार्ग है, यही करने योग्य है। अरे यह भव चला जा रहा है ! यह अमूल्य

समय यों ही व्यर्थ चला जाता है। भाई ! आयु पूर्ण होने पर क्या होगा ? - इसलिये यह कर लेने जैसा है, इसे आज ही कर ले। ।।३८।।

भगवान ! तुझे एक क्षण भी अपना विचार नहीं है ! तू एक क्षणमात्र भी अपना स्मरण नहीं करता और व्यापार-धंधे आदि में अपना समय गँवा रहा है। महा दुर्लभ ऐसा यह मनुष्यभव प्राप्त हुआ है तथापि यदि इस समय आर्त एवं रौद्रध्यान में लीन रहा हुआ अपने आत्मा की परवाह नहीं करता तो किस भव में अपने आत्मा को संसार समुद्र से उबारेगा ? अनन्त भव टालने के लिये यह भव है, भवका अभाव करनेके लिये यह भव है - ऐसा जानकर हे जीव ! तू अपने आत्मा का चिन्तवन कर। ।।३९।।

गाय, भेंस आदि पशु घास खाकर फिर आराम से जुगाली करते हैं, उसी प्रकार तत्व की बात सुनने में आये उसका मंथन कर के, अन्तर में जमा-जमाकर जब तक भावभासन न हो तब तक जुगाली करना चाहिये...**पर्याय का विश्वास और फिर त्रिकाल सत् का विश्वास आना चाहिये।** ।।४०।।

एकक्षेत्र में रहे हुए, शरीर, वाणी और मन की विविध एवं विचित्र पर्यायें उनके काल में उनके जन्मक्षण में होती हैं, उनका आधार मैं नहीं हूँ, कर्ता भी नहीं हूँ, कारण भी नहीं हूँ, प्रयोजक भी नहीं हूँ और उसके काल में पुद्गल से होनेवाली पर्याय का अनुमोदक भी मैं नहीं हूँ। मैं तो उसके

काल में होनेवाली पुद्गल पर्याय का ज्ञाता ही हूँ - ऐसी प्रथम दर्शनविशुद्धि होना वह भवभ्रमण के नाश का कारण है। ।।४१।।

जैसे-माता से बिछुड़े हुए बच्चे में 'मेरी माँ, मेरी माँ'-इस प्रकार अपनी माता की ही रट लगी रहती है; कोई उससे पूछे कि तेरा नाम क्या है ? तो कहेगा कि 'मेरी माँ।' कोई उससे कुछ खाने को पूछेगा तब भी वह 'मेरी माँ' की रट लगाये रहेगा। उसी प्रकार जिन भव्य जीवों को अन्तर में उत्कंठा जागृत हो, लगन लगे वे आत्मा का ही रटन करते हैं उसीकी चिन्ता बनी रहती है, आत्मा के अतिरिक्त अन्य की रुचि अन्तर में नहीं होने देते; उनका जीवन धन्य है ! अहो ! पूर्ण चिदानन्दस्वरूप मेरा आत्मा है, उसकी प्रतीति और प्राप्ति जब तक नहीं होगी तब तक यथार्थ शान्ति या सुख नहीं मिलेगा। अब तक का अनन्तकाल आत्मा को जाने बिना भ्रान्ति में गँवा दिया, अब एक क्षण भी खोना नहीं है - इस प्रकार आत्मा की रुचिवाला जीव अन्य किसीकी रुचि या चिन्ता नहीं करता। जो चैतन्यस्वभाव की प्रतीति करके उसे ध्यान में ध्याते हैं उनकी महिमा की क्या बात करें ? उन्होंने तो कार्य प्रगट कर लिया है, इसलिये कृतकृत्य हैं; किन्तु जिन्होंने उसके कारणरूप रुचि प्रगट की है कि अहो ! मेरा कार्य कैसे प्रगट हो ? **आनंदकन्द आत्मा का अनुभव कैसे करूँगा ? -ऐसी जिन्हें चिन्ता है, रुचि प्रगट हुई है उन आत्माओं का जीवन भी आचार्य कहते हैं कि धन्य**

है, संसार में उनका जीवन प्रशंसनीय है। ।।४२।।

सम्यक्त्वी धर्मी जीव अपनी दृष्टि की डोर चैतन्य से बाँध देता है, दृष्टि को ध्रुवस्वभावपर स्थिर कर देता है, ध्रुव आत्मापर जोर लगाता है। सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं कि जिसने ध्रुव ज्ञायकभाव पर दृष्टि की डोर बाँध दी है; फिर भले ही विकल्प आता हो, किन्तु दृष्टि तो ध्रुवस्वभाव पर ही है; वहाँ से जरा भी नहीं हटती, हिलती तक नहीं है। प्रभु ! तुझे कल्याण करना हो तो संयोग के ऊपर से लक्ष्य हटा ले, दया-दान के विकल्पों से दृष्टि उठाकर, एक समय की पर्याय का भी लक्ष्य छोड़ दे और त्रैकालिक ध्रुव चैतन्य भगवानपर दृष्टि की डोर बाँध दे। किस प्रकार बाँध दे ? अपनी वर्तमान उत्पन्न होती पर्याय को वहाँ ध्रुव ज्ञायक में जोड़ दे। **किस प्रकार जुड़ेगी ? अंतर्मुख होकर जोड़ दे। अंतमुर्ख कैसे हुआ जाये ? वह तो अंतर्मुख होनेवाला स्वयं करेगा या दूसरा कोई कर देगा ? अपनी जो वर्तमान पर्याय पर के लक्षवाली है उसे छोड़ दे और ज्ञायकभाव पर दृष्टि जोड़ दे।** अब, 'जोड़ दे' ऐसा कहा तो किस प्रकार जुड़ती है ? क्या कहें भाई ? अनुभव किस प्रकार होता है यह बात अभी नहीं चलती है, किन्तु श्री समयसार कलशटीका में ऐसा कहते हैं कि 'मैं शुद्ध ज्ञायक हूँ' - ऐसा ज्ञान का जो परिणमन होता है वह अनुभव है। भगवान आत्मा जो कि पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप वस्तु है उसमें अंतर्मुख दृष्टि होना, उसका अनुभव होना उसने स्वभाव की ओर डोर लगा दी ऐसा कहा

जाता है। भाषा में विशेष क्या आयेगा ? ।।४३।।

जीव ने अपने सहज सुखस्वरूप का एक क्षण भी धीर-गंभीर होकर विचार नहीं किया। यदि विचार करे तो वस्तु बहुत ही सस्ती और सरल है; परन्तु तीव्र जिज्ञासा, लालसा और उत्कंठा होना चाहिये। इस संसार का रस - रुचि छूट जाये तो अवश्य ही आत्मस्वरूप प्रगट हो जाये।।।४४।।

जिसे अपने आत्मा का कल्याण करना है परन्तु स्वयं मार्ग नहीं जानता ऐसे जिज्ञासु जीव को मार्ग बतलानेवाले ऐसे वीतराग देव-शास्त्र-गुरु का आलम्बन बीच में नियम से आता है। अपने भीतर आत्मा क्या वस्तु है, उसका यथार्थ स्वरूप क्या है, उसकी प्राप्ति किस प्रकार हो - आदि कोई खबर नहीं है, और जिन्हें खबर है-अनुभव है ऐसे देव-गुरु को तथा जिनमें पूर्वापर अविरुद्धरूप न्याय एवं युक्ति से मार्ग बतलाया गया है ऐसे सत् शास्त्रों को साथ नहीं रखेगा, तो तू भीतर आत्मा में एक डग भी कैसे चल सकेगा ? स्वयं जानता नहीं है, तो तू भीतर आत्मा में एक डग भी कैसे चल सकेगा ? स्वयं जानता नहीं है और जाननेवाले अनुभवी पुरुषों का समागम नहीं करता, तो अंतर का मार्ग सुने-समझे बिना तू अंतर प्रयत्न कैसे करेगा ? भले ही देव-शास्त्र-गुरु दे नहीं देते, परन्तु जिज्ञासु को मार्ग समझने में वे निमित्त है या नहीं ? आत्मा, शरीर, संपत्ति आदि पर से बिल्कुल भिन्न, शुभाशुभ विभावों से कथंचित् रहित है, वह एक समय की पर्याय जितना भी नहीं है, परन्तु परिपूर्ण अखण्ड ज्ञायकतत्व है - ऐसा देव-शास्त्र-गुरु बतलाते

हैं या नहीं ? निज ज्ञायक आत्मा को तू स्वयं नहीं जानता और जो जानते हैं उनकी संगति नहीं करता तो तू आत्मा में एक डग भी नहीं भर सकेगा। ।।४५।।

सारी दुनिया का भार अपने सिरपर उठाकर चले उससे भगवान कहते हैं कि राग का एक कण भी जो पर के लक्ष्य से होता है उसका कर्ता आत्मा नहीं है। आहा..हा...! यह बात किसे बैठेगी ! जो भव के दुःखों से भयभीत हुआ है उसे प्रभु की यह बात अमृत जैसी लगेगी। ।।४६।।

संसार में भटकते-भटकते अनन्तबार मनुष्यभव पाकर आत्मा को जाने बिना मरा, परन्तु आत्मा क्या वस्तु है उसे नहीं जाना। कभी आत्मा का यथार्थ विचार भी नहीं किया, इसलिये यहाँ उसकी महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि बाहर की चिन्ता - पकड़ छोड़कर जो आत्मा के स्वरूप में स्थिर हुए हैं उन्होंने तो करने योग्य कार्य कर ही लिया है, उनकी क्या बात ! परन्तु जगत की चिन्ता-पकड़ छोड़कर जिसे आत्मा की चिन्ता - पकड़ हुई है कि अहो ! अपने आत्मा को मैं अनन्तकाल से नहीं जान पाया, अनन्तकाल में कभी उसका ध्यान नहीं किया, आत्मा को भूलकर बाह्य पदार्थों की चिन्ता में ही भटकता रहा हूँ इसलिये अब सत्समागम से आत्मा को पहिचानकर उसका ध्यान करुँगा - ऐसी आत्मा की चिन्ता का परिग्रह, उसकी पकड़ करता है उसका जीवन भी प्रशंसनीय है। ।।४७।।

अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप निज आत्मा में एकाग्रता

करनेवाला जीव स्वतः अपने में एकाग्रता करता है। स्वतः सेवा करता है। उसमें उसे अन्य द्रव्यों की सहायता की आवश्यकता नहीं है। अन्य द्रव्य ज्ञान में ज्ञात हों तो भले हों, परन्तु वे मुझे किंचित् हितकारी नहीं हैं - ऐसा निर्णय पहले होना चाहिये। निर्णय की भूमिका यथार्थ हुए बिना हित का मार्ग हाथ नहीं आ सकता; इसलिये प्रथम यथार्थ निर्णय करो। ।।४८।।

लोग तो ऐसा मानते हैं कि बाह्य में फेरफार कर दें और बाह्य संयोग-साधन जुटाकर उनमें से सुख प्राप्त कर लें, किन्तु भाई ! तेरा सुख संयोगों में नहीं है। अरे ! देखो तो सही ! यह सर्वज्ञ की वाणी! संतो की रचना तो देखो ! सर्वज्ञ के मार्ग के सिवा दूसरे का एक अक्षर भी सच्चा नहीं है, दूसरे तो सभी विपरीत हैं। सत्य बात समझने से पूर्व भी गहरे-गहरे उसका बहुमान करके जो स्वीकार करता है, उस जीव को अन्य विपरीतता का आदर करनेवाले जीवों की अपेक्षा तो फेर पड़ा है। भले ही अभी स्वभाव की दृष्टि नहीं प्रगट हुई हो, किन्तु सत्य का आदर किया उसमें भी उतना तो फेर पड़ा है या नहीं? भव का अभाव तो स्वभाव की दृष्टि करेगा तभी होगा **परन्तु उससे पूर्व असत्य का पोषण छोड़कर सत्य के आदर का भाव भी जिसे न आये उसको तो स्वभाव में जाने की पात्रता भी कहाँ से आयेगी? अखण्ड स्वभाव की दृष्टि प्रगट होने से पूर्व उसके बहुमानपूर्वक श्रवण-मनन का भाव आये बिना नहीं रहता।**

सत्य का स्वीकार करके उसका आदरभाव भी जो नहीं करे उसे तो अंतरस्वभाव की दृष्टि प्रगट करने का अवसर भी नहीं आता। ।।४९।।

इस जीव का अंतरंग रुचिपूर्वक मनन और मंथन वह आगे बढ़ने का मार्ग है। स्वरूप के प्रति उसे प्रेम की आवश्यकता है; ज्ञान कम-अधिक हो उसकी कोई बात नहीं। ।।५०।।

इस कार्य के लिये बहुत पुरुषार्थ चाहिये, बड़ी पात्रता चाहिये, पुण्य-पापमें से सुखबुद्धि उड़ जाना चाहिये, सुखबुद्धि कहो या हितबुद्धि, वह उड़ जाना चाहिये। ।।५१।।

जैसे किसी छोटे बच्चे को कुत्ता काटने आये तो वह वहाँ से दूर भागकर अपने माँ-बाप के पास दौड़ जाता है और उनसे लिपट पड़ता है। उसी प्रकार अपना आत्मा महान है, वह बड़ा आधार है, उसकी शरण में जा। ।।५२।।

श्रोता :- राग से लक्ष्य हटकर स्वरूप में कैसे जाये ?

पूज्य गुरुदेव :- किसी वेदना के काल में अन्य किसी अनुकूलता की घटना हो जाये तो रोगमें से लक्ष्य हटाकर आनंदित हो जाता है; उसीप्रकार **स्वरूप की महिमा करे तो...अपूर्व महिमा आने पर राग की ओर से लक्ष्य हटा कर स्वरूप की रुचि और लक्ष हो जाता है।।।५३।।**

सर्वज्ञ की वाणी में भी मैं पूरा न आऊँ - ऐसा

मैं कौन ? उसका जिसे माहात्म्य आया है, आहा..हा...! और वह माहात्म्य भासित होना वही उसे करना है - कर्तव्य है। ।।५४।।

शरीर-धन-मकानादि अनुकूलता देखकर तुझे आश्चर्य और कौतूहल होता है, तो भगवान आत्मा महिमावंत पदार्थ है, अजायबघर है उसका तो कौतूहल कर ! भगवान सर्वज्ञदेव ने जिसकी इतनी-इतनी प्रशंसा और महिमा की है ऐसा आत्मा कैसा है उसे देखने का कौतूहल तो कर। एकबार विस्मय तो कर कि तू कितना महान पदार्थ है ! उसे देखने - अनुभवने का कौतूहल तो कर ! नरक का नारकी महा पीड़ा में पड़ा है, परन्तु वह ऐसे महान आत्मा को कौतूहल करके अनुभवता है, तो तू ऐसे अनुकूल योग में एकबार कौतूहल तो कर ! ।।५५।।

श्रोता :- सम्यक्त्वी को सब छूट है ?

पूज्य गुरुदेव :- उसने सबसे पृथक् होकर छूट ली है, भीतर दृष्टि की सारी दिशा बदल दी है। राग का स्वामित्व टल गया है। मैं ज्ञानानन्द हूँ ऐसा स्वामित्व हो गया है।

सम्यक्त्वी को विश्वास में आया है भगवान राग और पर का विश्वास छूट गया है। यह कोई साधारण बात नहीं है। उसकी दृष्टि में भगवान का विश्वास आया है, राग और पर की दृष्टि छूट गई। यह ज्ञानी की छूट है। ।।५६।।

यहाँ तो प्रथम यह विचारो कि उसकी सत्ता है, अस्तित्व है वह त्रैकालिक है, तो यहाँ से देहान्त होनेपर वह अन्यत्र

तो जानेवाला ही है। क्योंकि देह तो रहनेवाली नहीं है, कहीं और जायेगी; तो कहाँ जायेगी ? उसका निर्णय तो उसे करना पड़ेगा न ! यदि आत्मा को पहिचान कर प्रतीति करेगा तो आत्मा में रहेगा, किन्तु यदि प्रतीति नहीं की तो देह में दृष्टि पड़ी है इसलिये चार गतियों में भटकता फिरेगा और दुःख भोगेगा। अपने ऊपर दया करके अपनी पहिचान कर लेने का उसे यह अवसर प्राप्त हुआ है। भाई ! ऐसा अवसर फिर कब प्राप्त होगा ? ।।५७।।

मिथ्यात्व ही सबसे बड़ी कषाय है। तत्वनिर्णय करते-करते वह मन्द होती जाती है। निर्णय पूर्ण होनेपर उसका अभाव हो जायेगा। ।।५८।।

मुझे अपने गुण-पर्याय की आवश्यकता है और किसीकी नहीं - इसका नाम वैराग्य है। जो अपने में है उसकी अपेक्षा और अपने में जो नहीं है उस सब की उपेक्षा - ऐसे अपने अस्तित्व की प्रतीति होना वह ज्ञान है। ।।५९।।

महान-महान अनन्त-अनन्त माहात्म्यपूर्वक निर्णय हो जाये, बस, खलास ! फिर राग आनेपर भी छूटा ही छूटा है। ।।६०।।

जितने भी विकल्प उठते हैं उन सबमें कोई लाभ नहीं है। वे सब दुःख का पंथ हैं, सब विकल्प हैरान-परेशान करनेवाले हैं - ऐसा निर्णय हो तो आत्मा की ओर का प्रयत्न करे। ।।६१।।

नरक में नारकी के शरीर की गठरी बाँधकर दूसरे

नारकी उसके शरीर के आरपार खीले ठोकते हैं, उस क्षण भी जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। विवेक द्वारा भेदज्ञान प्राप्त करता है और यहाँ हर प्रकार की अनुकूलता होनेपर भी तुझे परसे पृथक् होने का अवकाश नहीं मिलता !

।।६२।।

अहो ! अनन्तकाल में हमने यह बात नहीं सुनी- इसप्रकार प्रसन्न चित्त से ज्ञानस्वभाव की बात अन्तर से सुने, रुचि को पलटकर सुने उसे भविष्य में मुक्ति होना ही है। अहो ! उसे पक्ष पक्का हो गया, वह बदलेगा नहीं। वह अवश्य मोक्ष में जायेगा; उसे तो यह काल तथा यह योग ही विशेष भासित होता है। नववें ग्रैवेयकवालेने प्रसन्नतापूर्वक इसप्रकार तत्व की बात सुनी ही नहीं; उसकी दृष्टि तो पुण्य पर थी। यह तो अनन्तकाल में नहीं सुनी हुई ऐसी अपूर्वता से तत्व की बात सुनता है उसकी बात है। **।।६३।।**

परद्रव्य से बिलकुल लाभ नहीं होता, ऐसा-पहले विकल्पसहित निर्णय करे तो उसका वीर्य स्वोन्मुख होगा। पर से कुछ भी लाभ होता है ऐसा मानेगा तो उसका वीर्य आत्मोन्मुख नहीं होगा। **।।६४।।**

यह तो सनातन स्याद्वाद जैनदर्शन है। उसे जैसा है वैसा समझना चाहिये। त्रैकालिक ध्रुववस्तु की अपेक्षा से एक समय की शुद्धपर्याय को भी भले हेय कहते हैं **परन्तु दूसरी ओर शुभराग आता है, होता है, उसके निमित्त देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का शुभराग होता है, भगवान की प्रतिमा**

होती है, उन्हें न माने तब भी मिथ्यादृष्टि है। भले ही उनसे धर्म नहीं है परन्तु उनका उत्थापन करे तो मिथ्यादृष्टि है। शुभराग हेय है, दुःखरूप है परन्तु वह भाव होता है, उसके निमित्त भगवान की प्रतिमा आदि होते हैं, उसका निषेध करे तो वह जैनदर्शन को नहीं समझा है इसलिये मिथ्यादृष्टि है। **।।६५।।**

वास्तवमें यह सुअवसर प्राप्त हुआ है उसमें स्वयं अपना कार्य कर लेने जैसा है। दुनियाकी आलोचना करने जायेगा तो यह अवसर गँवा देगा! अपनी भूलको सुधारना है। वस्तुस्वरुप समझकर भूलको सुधार ले तो भगवान हो जाय।

।।६६।।

जैसे कुत्ते के कानमें कीड़े पड़ जायें तो उसका लक्ष्य बारम्बार वहीं जाता रहता है, वैसे ही जिसे आत्मा प्राप्त करना है उसका लक्ष्य बारम्बार आत्मसन्मुख जाता है, आत्माकी धुन चलती रहती है। दूसरी धुन तो अनन्तकालसे चल रही है, अब एकबार आत्माकी धुन तो लगा। अरे, छह महीने तो प्रयत्न कर! बारम्बार अंतर्मुखताका प्रयत्न करेगा तो तुझे अवश्य आत्माकी प्राप्ति होगी। **।।६७।।**

समस्त सिद्धान्तका सार तो बहिर्मुखताको छोड़कर अंतर्मुख होना है। श्रीमद्ने कहा है न! उपजै मोह विकल्पसे समस्त यह संसार, अंतर्मुख अवलोकते विलय होत नहिं वार। ज्ञानीके एक वचनमें अनन्त गम्भीरता भरी है। अरे, भाग्यशाली को ही तत्वका रसास्वादन होगा और उसके संस्कार गहरे

उतरेंगे। ।।६८।।

भाई ! एकबार हर्षित तो हो कि अहा! मेरा आत्मा ऐसा परमात्मास्वरुप है, ज्ञानानन्दकी शक्तिसे भरपूर है, मेरे आत्माकी शक्ति कुण्ठित नहीं हुई है। ``अरेरे! मैं दीन-हीन हो गया, विकारी हो गया.... अब मेरा क्या होगा ?'' इसप्रकार भयभीत मत हो, हताश या निराश मत हो... एकबार स्वभावका उत्साह प्रगट कर... स्वभावकी महिमा लाकर अपनी शक्तिको उल्लसित कर। ।।६९।।

पशुका विष्टा (गोबर) मिलने पर गरीब स्त्रियाँ प्रसन्न हो जाती हैं और धन-वैभव मिलने पर धनवान सेठ खुश हो जाते हैं; परन्तु विष्टा (गोबर) और धनादिमें कुछ भी अन्तर नहीं है। एकबार आत्माके वैभवको देख ले तो बाह्य वैभवकी निर्माल्यता भासित हो। ।।७०।।

तीर्थंकर, चक्रवर्ती और बलदेव जैसे पुण्यके धनी, जिनकी देव भी सेवा करते थे, जिन्हें किसी प्रकार कोई कमी नहीं थी, लोग जिन्हें भगवान समान मानते थे - ऐसा पुण्य और वैभव होने पर भी ``हमें यह कुछ नहीं चाहिये''-इस प्रकार सर्वकी उपेक्षा करके-छोड़कर आत्मसाधना हेतु वनमें चले गये! अहाहा! उनको यह आत्मा कैसा आश्चर्यकारी एवं विस्मयकारी लगा होगा ? ।।७१।।

इस बातको समझने में अनन्त पुरुषार्थ चाहिये। अंतरमें पात्रता चाहिये। सब ओर से सुखबुद्धि हट जाना चाहिये। बहुत पात्रताकी आवश्यकता है, पर्यायमें बड़ी योग्यता होना चाहिये।

श्रीमद् कहते हैं कि तू अपने दोष से दु:खी हो रहा है। तेरा दोष इतना कि परको अपना मानना और अपनेको भूल जाना। ।।७२।।

अहो! संत-मुनि जहाँ मनुष्य हों वहाँ से तो चले गये... परन्तु जहाँ उनका पगरव भी न हो ऐसे एकान्त स्थानमें आत्मशोधन हेतु चले गये हैं। भाई! यह तो आत्मशोधनका काल है उसके बदले परकी और रागकी खोजमें सारा जीवन चला जाता है। ।।७३।।

भाई! तुझे प्राप्त करनेके लिये तेरी श्रुतज्ञानकी पर्याय ही बस है। दूसरा `कुछ यह करूँ और वह करूँ' - यह बात ही नहीं है। यह तो बिलकुल सीधी-सरल बात है। अंतरंग प्रेम सहित (रुचि पूर्वक) उस ज्ञानको अंतर्मुख करने पर उस पर्यायको द्रव्यका अवलम्बन मिलता है और आनन्दका स्त्रोत प्रवाहित होता है। ।।७४।।

स्ववीर्यका स्फूर्तिमय उल्लास इतनी शीघ्रतासे प्रगट कर कि यथार्थ स्वरुप प्रगट हो जाय। आत्माका स्वरुप प्रगट करनेमें एक समयमात्रका भी प्रमाद मत कर। अहाहा! ऐसा अवसर बारम्बार नहीं मिलेगा, इसलिये शीघ्रता से प्राप्त कर ले। ।।७५।।

अज्ञानी तो जीनेके लक्ष्यसे जी रहे हैं इसलिये उन्हें मरना अच्छा नहीं लगता। मृत्यु आने पर भी उनको जीनेका लक्ष्य बना रहता है। ज्ञानी तो मरने के लक्ष्यसे ही जीते हैं, इसलिये पहले से परीक्षा और प्रयोग तैयार कर रखे हैं;

फिर वे मृत्युका आनन्द से स्वीकार कर लेते हैं; उनको मृत्युके अन्तिम क्षण महोत्सवके रूपमें होते हैं, इसलिये आनन्दपूर्वक शरीरका त्याग करते हैं। जीनेके भावसे तो अनन्तबार जिया, परन्तु मरनेके भावसे कभी नहीं जिया। मरनेके भावसे जिये तो उसे पुन: जन्म ही न लेना पड़े। ।।७६।।

सांसारिक प्रेमका लक्ष हो और अपने पास से ही बाजे बजते हुए निकल जायँ तो उनका ध्यान नहीं रहता,.... फिर आत्माके लक्ष्यसे सारे जगतको भूल जायँ उसमें क्या आश्चर्य!! ।।७७।।

आकुलतायुक्त सुखसे भी जगतकी व्याधि भूल जाते हैं तो अनाकुलतायुक्त सुखसे जगतको क्यों नहीं भूल जायगा? अर्थात् आत्माके सच्चे सुख द्वारा संसारके चाहे जैसे घोर दु:ख भी भूल जाते हैं। ।।७८।।

सांसारिक प्रेम कम किये बिना परमेष्ठी के हृदयमें, उनके अंतरंगमें क्या है ? -वह समझमें नहीं आता। इसलिये परमेष्ठीका स्वरुप जाननेके लिये जगतका प्रेम घटाना चाहिये। ।।७९।।

इस वस्तुको प्रयोगमें लाने के लिये मूल से ही पुरुषार्थ उल्लसित होना चाहिये कि अहा! मैं इतना महान पदार्थ!- इसप्रकार निरावलम्बनरूपसे, बिना किसी आधारके, स्वयं से विचारकी धुन चलते-चलते ऐसा रसास्वाद होता है कि बाहर निकलना अच्छा नहीं लगता। अभी हैं तो विकल्प, परन्तु ऐसा लगता है कि यह मैं.... यह मैं-ऐसे मंथनका जोर चलते-

चलते वह विकल्प भी छूटकर अंतरोन्मुख हो जाता है। ।।८०।।

सिर काटनेवाला या कण्ठ छेदनेवाला अपना जितना अहित नहीं करता **उतना अहित अपना विपरीत अभिप्राय करता है।** जगतको अपने विपरीत अभिप्रायकी भयंकरता भासित नहीं होती। ।।८१।।

परसत्तावलम्बी तत्वोंको ग्रहण करनेका अभिमान, उनको त्यागने का अभिमान वह अभिमान ही मिथ्यात्व है, और वह सप्त व्यसनके पापकी अपेक्षा महान पापरूप है। ।।८२।।

देहरूपी मन्दिरमें जिनस्वरूप आत्मा बिराजमान है। उसका विश्वास लानेसे पर्यायमें प्रगट जिन होता है। ।।८३।।

स्त्री, कुटुम्ब, परिवारादि तो आत्माके शत्रु जो कर्म उसके द्वारा रचे गये षडयंत्र हैं। उन्हें अपना मानना ही संसारका बीज है। पुण्य-पाप और उनके फल तो आत्माके शत्रु - कर्म द्वारा रचा गया षडयंत्र है। ।।८४।।

जितने विकल्प उठते हैं उन सबमें कोई विशेषता नहीं है। वे सब तो दु:खके पंथ हैं; सब विकल्प हैरान करनेवाले हैं -ऐसा निर्णय हो तो आत्माकी ओर प्रयाण करे। ।।८५।।

अहा! जिसके आनन्द के क्षणभरके रसास्वादन में तीनों लोकके सुख विष समान भासित हों, तृण समान तुच्छ लगें, ऐसा भगवान आत्मा है! ।।८६।।

जिसने बाह्यमें, कहीं रागमें, संयोगमें, क्षेत्रमें - इसप्रकार कहीं न कहीं किसी द्रव्यमें, क्षेत्रमें, कालमें - यह ठीक है ऐसा मानकर वहाँ विश्राममें - ठहरनेमें काल गँवाया उसने अपने आत्मा को ठग लिया है। ।।८७।।

पहले समझे तो सही, स्वभाव का पक्ष तो करे कि राग और निमित्त की ओर ढलने जैसा नहीं है परन्तु स्वभावकी ओर ही ढलने जैसा है, ऐसा पक्का निर्णय तो करे। निर्णय का वज्रस्तंभ तो रोपे....उसके बिना एक डग नहीं चला जा सकता। ।।८८।।

धन कमानेका काल तो मरनेका काल है। यह तो आत्मा के आनन्द को कमानेका काल है उसे चूकना नहीं - गँवा मत देना। ।।८९।।

शरीर तो तुझे छोड़ेगा ही, **परन्तु तू शरीरको (दृष्टिमें) छोड़ दे उसकी बलिहारी है.....यह तो शूरवीरोंका खेल है।** ।।९०।।

विषय-कषायकी रुचि तो छूटी नहीं है और 'मात्र ज्ञातृत्व (जानपना) है' वह ज्ञातृत्वके नामसे आत्माको ठगता है। वह ज्ञातृत्व ही नहीं है; सच्चा ज्ञातृत्व होने पर तो विषय-कषायकी रुचि छूट जाती है। ।।९१।।

जिसका चैतन्यके प्रति लक्ष्य बँध रहा है उसका जोर चैतन्यकी ओर चल रहा है। यही स्वभाव है.....यही स्वभाव है; इस प्रकार स्वभावमें ही जोर होनेसे हम उसे अल्पऋद्धिवान क्यों देखें ? **मिथ्यादृष्टि होने पर भी वह सम्यक्त्व-सन्मुख हो गया है वह सम्यक्त्व लेगा ही।** ।।९२।।

प्रश्न :- स्थूलबुद्धि हो तो राग और आत्मामें भेदज्ञान कैसे कर सके ?

उत्तर :- आत्माकी बुद्धि स्थूल नहीं है। आत्माके प्रति रस और रुचि हो तो बुद्धि (इस विषयमें) काम करे। संसारकार्योमें रस है तो वहाँ बुद्धि स्थूल नहीं रहती। सभी पहलूओं का विवेक करके जैसे लाभ हो वैसे करता है। जिस ओर रुचि हो उसी ओर वीर्य कार्य करे, बुद्धि कार्य करे। यदि आत्माके प्रति रस जगे, रुचि जगे तो वीर्य भी कार्य करता है, बुद्धि भी कार्य करती है तथा भेदज्ञान की प्राप्ति होती है। आत्मानुभूतिके लिए आत्माके प्रति यथार्थ रुचिकी आवश्यकता है। ।।९३।।

भद्रता तो यह है कि **स्वयंके अल्प दोष भी कोई बतलाए अथवा स्वयं देखे तो तुरन्त ही स्वीकार करे ; अन्यके अल्प गुणका भी बहुमान करे।** स्वयंकी महत्ता बढानेके लिए, अन्यकी हीनता करनेमें जिस प्रकारके विचार-वाणी और वर्तन होते हैं - वह भद्रता नहीं, परन्तु वक्रता कहलाती है। स्वयंकी जो सीमा है उस सीमाके उपरान्त स्वयंकी महत्ता बतलानेका जो वर्तन होता है - वह वक्रता है।।९४।।

सर्वज्ञका निर्णय करे, आदर करे, विश्वास करे, प्रशंसा करे, रुचि करे, तो उसीमें स्वयंके सर्वज्ञस्वभावकी प्रतीति हो जाती है, यही पुरुषार्थका स्वरुप है। ।।९५।।

आत्मा की विकल्प सहित साधारण महिमाको महिमा

नहीं कहते। अन्तरमें रूचे तो वीर्य उछले, वह यहाँ-कहाँ उछलता है? **साधारण धारणा और महत्ता तो अनन्त बार हुई, परन्तु यथार्थ आत्ममहिमा तो अन्तर स्फुरित होनी चाहिए, एक यही कमी रह गई है। प्रथम माहात्म्य होता है और पीछे माहात्म्यकी उग्रता होते-होते एकाग्रता होती है।** **।।९६।।**

अल्प किन्तु सत्य ग्रहण करे तो उतनेमें तो केवलज्ञान प्रकट करनेकी शक्ति है। बहुत किन्तु विपरीत ग्रहण करे तो उसमें तो निगोदके अनन्त भव होनेकी शक्ति हैं। **।।९७।।**

विकारकी तुच्छता भासित हो तो वीर्य वहाँसे खिसके ओर स्वभावकी महिमा भासित हो तो वीर्य वहाँ ढ़ले। **।।९८।।**

प्रश्न :- तत्वका श्रवण-मनन करने पर भी सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता ?

उत्तर :- सचमुच तो अन्तरमें रागके दुःखसे थकान लगी ही नहीं, अतः विश्रामका-शान्तिका स्थान हाथ ही नहीं आता। वास्तवमें अन्तरसे दुःखसे थकान लगे तो अन्तरमें उतरने पर विश्रामका स्थान हाथ लगे। सत्यके शोधकको सत्य न मिले -- यह सम्भव ही नहीं। **।।९९।।**

सम्यग्दृष्टिका ज्ञान अतिसूक्ष्म है, फिर भी वह राग और स्वभावके बीचकी संधिमें ज्ञानपर्यायका प्रवेश होते ही प्रथम बुद्धिगम्य भिन्नता करता है। ख्यालमें आ सके इस प्रकार (प्रथम

ही) राग और स्वभाव दोनोंको छेदता है। बुद्धिगम्य छेदन याने कि, ख्यालमें आ सके इस प्रकार दोनोंमें भिन्नता करता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी और सम्यग्दर्शनको कायम रखनेके मार्गकी यह बात है। प्रथम यह बात सुनें; सुनकर विचार करें, और पीछे प्रयत्न करें। **।।१००।।**

प्रश्न :- सम्यक्-सन्मुख जीव तत्वके विचार कालमें रागको अपना जानता है या पुद्गलका ?

उत्तर :- **सम्यक्-सम्मुख जीव रागको अपना अपराध मानता है। और अन्तरमें उतरनेके लिए 'राग मेरा स्वरूप नहीं, रागरुप मैं नहीं' - ऐसा जानकर उनका लक्ष्य छोड़, अन्तरमें उतरनेका प्रयत्न करता है।** **।।१०१।।**

प्रश्न :-विकल्पसे निर्विकल्प होनेमें सूक्ष्म विकल्प रोकते हैं , उनका क्या करना ?

उत्तर :- निर्विकल्प होनेमें विकल्प नहीं रोकते, पर तूँ अन्तरमें ढ़लने योग्य पुरूषार्थ नहीं करता, जिससे विकल्प नहीं टूटते। विकल्पोंको तोड़ना नहीं पड़ता, पर स्वरूपमें ढ़लनेका पुरूषार्थ उग्र होने पर विकल्प सहज ही टूट जाते हैं। **।।१०२।।**

आत्माको पानेके लिए तो पूरा इसके पीछे पड़ना चाहिए। इसीका रटन करना चाहिए । सोते-जागते इसीका प्रयत्न करना चाहिए। रूचिकी यथार्थता बनी रहनी चाहिए। अन्तरमें परमेश्वर कितना महान है ! उसके दर्शन के लिये कौतूहल जागे तो उसके दर्शन बिना चैन न पड़े।**।।१०३।।**

अहो ! इस मनुष्यगतिमें ऐसे परमात्मस्वरुप मार्गकी आराधना करनेका प्रारंभ करना, यह तो जीवन की कोई धन्य पल है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञायक ही है - ऐसा भावमें आए। चाहे जैसे प्रसंगमें भी मैं ज्ञायक हूँ ... मैं ज्ञायक हूँ ... यही भाव रहा करे, ज्ञायकका ही लक्ष्य रहे तो उस और ढ़लना होता ही रहे। ।।१०४।।

जिज्ञासु जीवको भूमिका अनुसार शुभाशुभ परिणाम तो आयेंगे ही। रागको छोडूं...छोडूं- ऐसे राग पर दृष्टि रखनेसे राग नहीं छूटेगा। अतः एकदम (व्यर्थकी) उतावली नहीं करना। उतावली करनेसे राग नहीं छूटेगा बल्कि उलझन बढ़ जाएगी। राग छोडूं-छोडूं ऐसे नास्ति पक्षमें खड़े रहनेसे राग नहीं छूटेगा और उलझन होगी। स्वभावके अस्तिपक्षका यथार्थ पुरुषार्थ होने पर राग सहज ही छूट जायेगा। ।।१०५।।

अहो ! जिसका क्षेत्र मर्यादित होने पर भी जिसके कालका अन्त नहीं, जिसके गुणोंका अन्त नहीं, - ऐसी अनन्त स्वभावी चैतन्य ज्योति सदा एकरुप चैतन्य स्वरुप ही रही है। आत्मवस्तु ही गंभीर स्वभावी है, जब तक इसकी गंभीरता भासित न हो तब तक वास्तविक महिमा नहीं आती। इसकी गंभीरता भासित होने पर आत्माकी ऐसी महिमा आती है कि यह महिमा आते-आते विकल्पोंको उलांघ जाती है, विकल्पोंको तोड़ना नहीं पड़ता, पर वे टूट जाते हैं और अतीन्द्रिय आनन्दका स्वानुभव होता है। ।।१०६।।

प्रश्न :- तत्वका निर्णय करनेमें कितने वर्ष लगना?

उत्तर :- कार्य हो जाए तो अन्तर मुहूर्तमें हो जाए, अन्यथा

इसके निर्णयमें पूरा जीवन भी बीत जाए। इसमें कालका तो प्रश्न ही कहाँ है ? जो वीर्य विपरीततामें लगा है, उसे पूरा पलटकर अपनी ओर ढाले तो कार्य हुए बिना न रहे। जितना कारणरूप पुरुषार्थ करना चाहिए उतना पुरूषार्थ न करे तब तक कार्य नहीं होता। ।।१०७।।

भाई ! तूँ संसारके प्रसंगोंको याद किया करता है, पर तूँ स्वयं पूर्णानंदका नाथ अनन्त गुणरत्नोंसे भरा हुआ महाप्रभु सदा ऐसाका ऐसा ही रहता है - इसे याद कर न ! स्त्री-पुत्र आदिको इस प्रकार प्रसन्न रखा था और इस प्रकार भोगविलासमें मौज-मजे माने थे - ऐसे याद करता है - स्मरण करता है, पर ये सब तो तेरे दुःखके कारण हैं। सुखका कारण तो तेरा स्वभाव है। वह तो सदा ही शुद्ध रूपसे, ऐसाका ऐसा ही विद्यमान है। चार गतियोंमें भ्रमण करने पर भी तेरा स्वभाव सुखसागरसे भरा हुआ ऐसाका ऐसा ही रहा है - उसे याद कर न ! उसका स्मरण कर न ! यह एक ही तेरी सुख-शांतिका कारण होगा। ।।१०८।।

भाई ! तूँ सावधान रहना। मुझे आता है - ऐसे बुद्धिबलके अहम् में अभिमानके रास्ते न चले जाना। विभावका रास्ता तो अनादिसे पकड़ा हुआ ही है। ग्यारह अंगके ज्ञान में - धारणा में तो सब कुछ आया था, परन्तु शास्त्रके धारणा-ज्ञान की अधिकता की; और आत्मा की अधिकता नहीं की। धारणा-ज्ञान आदि के अभिमान से बचाने के लिए गुरु चाहिए, सिर पर टोकने वाले गुरु चाहिए। ।।१०९।।

प्रभु ! क्षयोपशमके अभिमानसे दूर रहना ही अच्छा है। बाह्य प्रसिद्धिके भावसे व बाह्य प्रसिद्धिके प्रसंगोंसे दूर भागनेमें ही आत्मार्थीको लाभ है। क्षयोपशमज्ञानके कारण लोग मान-सम्मान-सत्कार करते हैं, पर आत्मार्थीको इन प्रसंगोंसे दूर-भागना ही योग्य है। ये मान-सम्मानके प्रसंग निस्सार हैं, तनिक भी हितकर नहीं। एक आत्मस्वभाव ही सारभूत और हितकारी है। अतः क्षयोपशम के अभिमानसे दूर भागकर आत्म-सम्मुखता करना ही योग्य है। ।।११०।।

मैं जाननेवाला, देखनेवाला ज्ञाता हूँ - ऐसा बारंबार अंतरमुख अभ्यास करने से ज्ञातापना प्रकट होता है, तभी विकल्पका कर्तृत्व छूटता है। ।।१११।।

विशेष प्रकारकी पात्रताका अर्थ क्या ? -- कि "जिसको मात्र आत्मा ही चाहिए"; इसके अतिरिक्त मान प्राप्तिके अथवा बाह्य प्रसिद्धिके भाव कुछ भी नहीं है - यही विशेष प्रकारकी पात्रता है। ।।११२।।

जिसे दुनियाकी बातोंमें रस हो, उसे यह बात जँचना कठिन है; व जिसे इस विषयका रस लग जाता है उसे अन्य कहीं भी रस नहीं आता। इसप्रकार जिसे इन्द्रिय ज्ञानका रस चढ़ा हे उसे अतीन्द्रिय ज्ञान प्रकट नहीं होता। जैसे राग व्यभिचार है, वैसे ही इन्द्रियज्ञानका रस भी व्यभिचार है। ।।११३।।

प्रश्न :- राग और आत्माकी सूक्ष्म संधि दिखती नहीं, अन्य विचार आया करते हैं, तो प्रज्ञाछैनी कैसे मारें ?

उत्तर :- स्वयं उल्टा पुरुषार्थ करता है, इसीलिए अन्य विचार आया करते हैं। पुरुषार्थ करके उपयोगको स्वभाव सन्मुख सूक्ष्म करे तो आत्मा व बंधकी संधि दिखे तथा भिन्नता की जा सके। ।।११४।।

प्रश्न :- (क्या) धारणाज्ञानमें यथार्थरूपसे समझे तो सम्यक्-सन्मुखता कहलाती है ?

उत्तर :- धारणाज्ञानमें दृढ़ संस्कार-अपूर्व प्रकारसे रोपे; पूर्वमें कभी न डाले हों - ऐसे अपूर्व ढंगसे संस्कार रोपे तो सम्यक्-सन्मुखता कहलाती है। ।।११५।।

प्रश्न :- संसारसे थकान लगनेका उपाय क्या ?

उत्तर :- संसारमें शुभाशुभभाव हैं सो दुःखरुप हैं; उनके फलमें चार गतियाँ मिलती हैं, उनमें अनेक प्रकारके दुःख व आकुलता है - ऐसा अंतरंगसे वेदन होना चाहिए; शुभाशुभ भाव दुःखरुप ही हैं, ऐसा लगने पर ही संसारसे थकान लगती है। ।।११६।।

प्रश्न :- अन्तरमें उतरनेके लिए रुचिकी आवश्यकता है अथवा अन्य कुछ भूल है ?

उत्तर :- अन्तरमें उतरनेके लिए सच्ची रुचि ही चाहिए, परन्तु उस रुचिके विषयमें अन्य नहीं कह सकते, स्वयंको ही निश्चय करना चाहिए। सच्ची रुचि हो तो आगे बढ़ता जाए व अपना काम कर ले। ।।११७।।

भाई ! तू सत्की गहरी जिज्ञासा कर, ताकि तेरा प्रयत्न यथार्थतः चलता रहे। तेरी परिणति सुल्टी होकर आत्मामें

परिणमित हो जाएगी। यदि सत्के गहरे संस्कार रोपे होंगे और इस भवमें कार्य न भी हुआ हो तो आगामी गतिमें सत् प्रकट हो जाएगा। सातवीं नरकके नारकी की वेदनाका पार नहीं, परन्तु अन्तरमें पूर्व-संस्कार जागृत होने पर वह सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है, अतः अन्तरमें सत् के गहरे संस्कार डाल। भाई, गहराईसे सत् के संस्कार डाल ! ऊपर-ऊपरसे तो संस्कार अनेक बार डाले हैं, परन्तु एक बार भी गहराईसे यथार्थ संस्कार डाले तो अगली गतिमें ही सम्यग्दर्शन प्रकट हो जायेगा।

।।११८।।

प्रश्न :- आत्मअनुभव होनेके पूर्व अंतिम विकल्प कैसा होता है ?

उत्तर :- अंतिम विकल्पका कोई नियम नहीं है। रागसे भिन्नतापूर्वक शुद्धात्माकी सन्मुखताका प्रयत्न करते-करते, चैतन्यकी प्राप्ति होती है। जहाँ त्रिकाली ज्ञायक प्रभुकी ओर परिणति ढल रही हो, ज्ञायक धारा उग्र व तीक्ष्ण हो, तब अंतिम विकल्प कैसा हो - इसका कोई नियम नहीं है। पर्यायको अन्तरमें गहरे ध्रुव पातालमें ले जा, वहाँ भगवान आत्माकी प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शन होता है। ।।११९।।

त्रिकाली द्रव्यके आश्रयसे ही धर्म होता है प्रथम यह निर्णय हो जाना चाहिए। भले ही अभी अनुभव तक पहुँच न पाए, परन्तु उसके संस्कार तो रोपने ही चाहिए; ताकि स्वयंके पर ओर झुकनेवाले भावोंकी अनुमोदना न हो।

।।१२०।।

प्रश्न :- धारणाज्ञानसे आगे नहीं बढ़ते तो किसके बलसे आगे बढ़ा जा सके ?

उत्तर :- द्रव्यके बलसे ही आगे बढ़ते हैं। ज्ञायकभाव, चैतन्यभाव, द्रव्यभाव, प्रथम इस ओर ही जोर होना चाहिए।

।।१२१।।

प्रश्न :- तिर्यंचको अधिक ज्ञान न होने पर भी उसे आत्मा दृष्टिगत हो जाता है और हमें इतनी महेनत करने पर भी आत्मा क्यों ग्राह्य नहीं होता ?

उत्तर :- जिस जातका (ज्ञानमें) प्रमाण आना चाहिए सो नहीं आता। ज्ञानमें आत्माका जितना वजन होना चाहिए वह नहीं आता, ज्ञानमें उस प्रति जितना जोर होना चाहिए उतना जोर नहीं होता, जिस हद तक स्पृहा व आशा छूटनी चाहिए सो नहीं छूटती; अतः कार्य नहीं होता, आत्मा ग्रहण नहीं होता। ।।१२२।।

समयसार गाथा ४ में श्रुत शब्दका प्रयोग है; जिसका हेतु है कि निज अभिप्राय अनुसार अध्ययन करते जाएँ तो कार्यकारी नहीं। (मर्म) ज्ञानीसे ही समझना चाहिए; वह कोई पराधीनता नहीं है; जिसकी पात्रता हो उसे ज्ञानी मिले बिना नहीं रहते। सत् (प्राप्ति) के लिए सत् का निमित्त चाहिए। अज्ञानी जीव धर्म प्राप्तिमें निमित्तभूत नहीं हो सकते।

।।१२३।।

जिसे धर्मका आदर है सिद्धपदकी चाह है, उसे लक्ष्मीकी रुचि नहीं होनी चाहिए। आसक्ति होना एक अलग बात है,

परन्तु रुचि नहीं होनी चाहिए। सिद्धको वंदन करने वाला अन्यको वन्दन नहीं करता। लक्ष्मीकी रुचिवालेको सिद्धकी रुचि नहीं है। इसीलिए कहते हैं कि रुचि बदलो। पर्यायमें मैं सिद्ध हूँ - जिसको ऐसी रुचि हुई उसको एक परमाणुकी भी रुचि नहीं रहती। ।।१२४।।

जिन-धर्म तो वीतराग स्वरूप है। जिनधर्म किसे कहना तथा उससे विपरीत अन्य धर्म क्या है -यह जानना चाहिए। जिनधर्म तो वीतराग स्वरूप अर्थात् निज शुद्धात्माकी अपेक्षा व निमित्तादिकी उपेक्षा स्वरूप है। जब तक पूर्ण वीतरागता प्रकट न हो तब तक जिन प्रतिमाकी पूजा-वंदना-भक्ति आदि होती है; परसे उपयोग पलट कर आत्मदर्शन करनेका हेतु व लक्ष्य होता है - ऐसा जिनमत है। ।।१२५।।

किसका समागम करनेसे सम्यक-श्रद्धान आदि हों - आत्मवृद्धि हो; व किसकी संगतिसे मिथ्यात्व पुष्ट होगा, चार गतिका भ्रमण यों का यों बना रहेगा तथा दुर्गतिका कारण होगा ? इन दोनोंकी गंभीर परीक्षा कर, निर्णय करना योग्य है। ।।१२६।।

प्रश्न :- हम अन्य देवादिकी भक्ति आदि नहीं करते तो हमारा गृहीत मिथ्यात्व तो छूटा है न ? इतना तो लाभ हुआ न ?

उत्तर :- नहीं; ऐसा नहीं है, क्योंकि तुम्हें गृहीतमिथ्यात्वका ज्ञान ही नहीं है। तुम्हें १८ दोष रहित सच्चे सर्वज्ञदेव, उनकी अनेकान्त लक्षणयुक्त हितकारी-वाणी तथा सच्चे निर्ग्रन्थ गुरुकी

पहिचान ही नहीं है। किसी समाज-प्रतिष्ठित पुरुषके अनुसरण, अथवा कुल-परम्परासे तुम सच्चे देवादिको मानते हो; परन्तु तुम्हें अन्तरंगमें उनका स्वरूप भासित नहीं हुआ, अतः तुम्हारे गृहीतमिथ्यात्व छूटा हुआ नहीं कहा जा सकता।

वास्तवमें तो कुदेवादिसे सम्बन्ध तोड़कर जो सच्चे देवादिमें लगनी लगाकर, तत्वका निर्णय कर, अन्तरंग शुद्ध-तत्वका श्रद्धान आदि करेंगे उनका ही कल्याण होगा। ।।१२७।।

जो सच्चे देवादिके प्रति भक्तिभाव न आते हों तो समझो कि तुम्हें धर्मकार्य नीरस लगते हैं: इसका कारण क्या ? रुचि क्यों उत्पन्न नहीं होती, उमंगपूर्वक उद्यम नहीं होता तो लगता है कि तुम्हारा भविष्य बूरा है। तुम्हारा चौरासीके अवतारमें भटकना चालू ही रहेगा - ऐसा दिखता है। जैसे आहारकी रुचि न रहती हो तो मरण निकट - सा लगता है; वैसे ही यदि तुम्हारे अंतरंगमें धर्मवासना न जगी, देव-गुरु के प्रति उल्लास व उमंग न आए तो तुम्हारा संसार-चक्र अभी चालू है। लोग भले ही तुम्हें भला कहें, परन्तु जिनके तुम भक्त हो उन केवलज्ञानीसे तुम्हारा कपट छिपा नहीं रह सकता। ।।१२८।।

चैतन्यतत्वके लक्ष्यसे रहित जो कुछ किया वह सब सत्यसे विपरीत हुआ। सम्यग्ज्ञानकी कसौटी पर रखनेसे उनमेंसे एक भी बात सच्ची नहीं निकलती। अतः जिन्हें आत्मामें अपूर्व धर्म प्रकट करना हो उन्हें अपनी पूर्वमें मानी हुई सभी बातोंको अक्षरशः मिथ्या जानकर, ज्ञानका सम्पूर्ण बहाव ही बदलना

पड़ेगा। परन्तु जो अपनी पूर्व मान्यताओंको रखना चाहते हैं व उनके साथ उक्त (धर्म-प्रकट करनेकी) बातका मेल बिठाना चाहते हैं तो अनादिसे चली आ रही भूल भूलैयाका नाश नहीं होता; और ऐसा नया व अपूर्व सत्य उनकी समझमें नहीं आएगा। ।।१२९।।

पूर्वमें आत्माको चाहे बिना केवल विषय-कषायमें ही जीवन बिताया हो तो भी यदि वर्तमानमें रुचिको बदलकर, आत्माकी रुचि करे तो अपूर्व आत्मभान हो सकता है। ।।१३०।।

धर्मकी प्रीतिवाले विवेकी जीवको अपने परिणाममें रागादि घटानेके प्रयोजन से धर्म कार्यमें लक्ष्मी आदि व्यय करनेका भाव आए बिना नहीं रहता। कितने ही जीव धार्मिक कार्योंकी ओर ध्यान ही नहीं देते, वे बाह्य लौकिक कार्योमें धनका उपयोग करते हैं, ऐसे जीवोंको धर्मका विवेक ही नहीं है। जिसे धर्म कार्यमें लक्ष्मीका उपयोग करनेका उत्साह है उसे स्वयंको धर्मकी प्रीति है व इस कारणसे ऐसे जीवकी पंडितजन भी प्रशंसा करते हैं। ।।१३१।।

चैतन्यस्वभाव सुखसे लबालब है। उसका विश्वास कर ! उसकी जितनी भावना करे उतना सुख प्रकट हो। संयोगकी चाहे जितनी भावना करे उसमेंसे कभी भी सुख मिलने वाला नहीं है, उस तृष्णासे तो दुःख ही है। ।।१३२।।

नैतिकवान कुल, धनसम्पन्नता, निरोगी शरीर तथा दीर्घ-आयु - ये सभ पाकर भी, अंतरमें उत्तम-सरल स्वभावको पाना

दुर्लभ है। परिणाममें तीव्र वक्रता हो, महा संक्लिष्ट परिणाम हो, क्रोध-मान-माया-लोभकी तीव्रता हो तो धर्मका विचार कैसे हो ? विषय-कषायका लंपटी हो, तथा सरल व मंद कषायरूप परिणाम न हों; उसे तो धर्म पाने योग्य पात्रता ही नहीं है - यानी कि मन्द कषायके सरल परिणाम होना भी दुर्लभ है; धर्मकी बात तो बहूत दूर है। सरल परिणाम होना सो कोई धर्म नहीं है, परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि सरल परिणाम होना भी दुर्लभ है तो फिर धर्मकी दुर्लभताकी तो क्या बात करें ?

बहुतसे जीवोंको सरल परिणाम होने पर भी सत्समागम मिलना दुर्लभ है। कोई-कोई लौकिक-जन भी मंद-कषाय वाले होते हैं; परन्तु वीतरागी, सर्वज्ञ शासनके तत्वको समझानेवालेका सत्समागम मिलना अति दुर्लभ है। एक ओर मंदकषाय तो करता है, परन्तु दूसरी ओर कुदेव-कुगुरुके संगमें बहकर; विपरीत श्रद्धाका पोषण कर, मनुष्य-भव ही खो देता है। "वीतरागी देव-गुरुका समागम मिलना महादुर्लभ है"। धर्मका यथार्थ स्वरूप समझाने वाले "ज्ञानी पुरूषोंका समागम महा-भाग्यसे मिलता है"। सत् समझनेकी योग्यता हो तब ऐसी सत्वाणी सुननेको मिलती है और सत्समागम पाकर भी अंतरमें सम्यग्दर्शन होना तो परमदुर्लभ है। ।।१३३।।

मनुष्यभवकी दुर्लभताका वर्णन किसलिए किया ? - कि धर्म समझने हेतु। जो धर्म न समझे तो मनुष्यभव लूँट जाता है। अनन्त बार मनुष्यभव पाया परन्तु आत्माकी चाह

न हुई, जिससे पुनः पुनः संसारमें भटका। अतः आत्माकी समझ कर लेना ही योग्य है। सत् समागममें साधु-संत पुरुषोंसे चैतन्य स्वभावका मर्म सुनकर उसका निर्णय कर लेना चाहिए। अहो ! मनुष्यभवकी ऐसी दुर्लभता जानकर तो चैतन्य ही को ध्येय बना लेना योग्य है। जिसने चैतन्यको ध्येय न बनाकर केवल परको ही ध्येय बनाया है वह जीव स्व-विषयको चूक कर, पर विषयोंमें रमता है; वह जीव कैसा है ? - कि राख पानेके लिए रत्नको ही जला देनेवाला है। **।।१३४।।**

जिसमें पाँच रुपये देनेकी भी शक्ति नहीं है, वह यदि कहे कि मैं कल एक लाख रुपया दूँगा, तो उसकी बात ही मिथ्या है। वैसे ही सुदेव-गुरु-शास्त्रकी तो ख़बर ही नहीं है, और आत्माकी बात करें, तो वह गलत है। जिसे तत्व व अतत्वका ही पता नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञके शासनके अतिरिक्त अखंड-आत्माकी ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं होती। **।।१३५।।**

अपनी चमड़ी उतारकर (गुरु-हेतु) जूते बनाएँ तो भी उपकारसे ऋणी न हो सकें - ऐसा गुरु आदिका उपकार होता है। इसके बजाय जो उनके उपकारका गोपन करता है वह तो अनन्त संसारी है। किससे सुनें-समझें ? - इसका ही जिन्हें विवेक नहीं है वे तो आत्माको समझनेके योग्य ही नहीं - पात्र ही नहीं हैं। जिनके लौकिक-न्याय-नीतिका भी ठिकाना नहीं है - ऐसे जीव शास्त्र-वांचन करे, और जो उन्हें सुनने आएँ तो वे सुनने वाले भी पात्र नहीं हैं।**।।१३६।।**

वीतरागता बढ़े और कषाय घटे - ऐसा जिसका प्रयोजन हो वही जैनशास्त्र है। जिसको इस बातकी परीक्षा करना भी नहीं आता उसे धर्म हो जाए - यह नहीं हो सकता। **।।१३७।।**

मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव है। अतः जिन शास्त्रोंमें किसी भी प्रकारसे राग-द्वेष मोहभावोंका निषेध कर, वीतराग भाव प्राप्तिका प्रयोजन प्रकट किया हो वे शास्त्र ही पढ़ने व सुनने योग्य हैं। अभी तो जिनको यही ख़बर नहीं है कि कौनसे शास्त्र पढ़ने-सुनने चाहिए ? - वे कब संसारके दुःखोंसे छूट सकेंगें ? उनके दुःखका अभाव नहीं होता। अतः प्रथम यह निर्णय करना कि कौन से शास्त्र सच्चे हैं। **।।१३८।।**

जिन शास्त्रोंमें श्रृंगार-भोग कौतुहलादिके पोषण द्वारा राग-भावकी, हिंसा-युद्धादिके अनुमोदन द्वारा द्वेष भावकी, अथवा अतत्व-श्रद्धानके पोषण द्वारा मोह भावकी पुष्टि की हो वे शास्त्र नहीं; शस्त्र हैं - अतः ऐसे शास्त्रोंको नहीं पढ़ना-सुनना चाहिए। **।।१३९।।**

जीव, कर्मके उदयसे दुःखी नहीं है बल्कि अपने राग-द्वेष-मोहके कारणसे दुःखी होता है। उस दुःखका नाश करनेका एक मात्र उपाय तो वीतराग भाव है। जो शास्त्र ऐसा बोध-उपदेश नहीं देते वे राग-द्वेष-मोहके पोषक होनेसे आत्माके घातमें निमित्त होते हैं - यानी आत्माका पर्यायमें घात होता है। अतः ऐसे शास्त्र पढ़ने-सुनने योग्य नहीं हैं।**।।१४०।।**

(सच्चा) श्रोता, शास्त्राभ्यासका रसिक होता है तथा

धर्मबुद्धि पूर्वक निन्दनीय कार्योंका त्यागी होता है। मद्य-मांस-मधु, त्रसजीवयुक्त-भोजन, पुरुषको परस्त्री व स्त्रीको पर-पुरुषका सेवन आदि तो साधारण लौकिक-नीतिमें भी नहीं होते; अतः श्रोता तो ऐसे निंद्य कार्योंका त्यागी ही होता है।**।।१४१।।**

जैनशास्त्रके - वीतरागता, स्वतंत्रताके न्याय मर्मको समझने-वाला श्रोता ही विशेषरूपसे शोभित होता है। पर ऐसा होने पर भी उसे यदि आत्मज्ञान न हो तो वह उपदेश का मर्म नहीं समझ सकता। आत्मज्ञान रहित हो तो भी उसे आरम्भ से ही तद्रूप दृढ़ आस्थावाला तो होना ही चाहिए। जिसे देव-गुरु-शास्त्रकी ऐसी श्रद्धा नहीं है उसकी तो सामान्य श्रोताओंमें भी गिनती नहीं होती। अतः जो आत्मज्ञान द्वारा स्वरूपका आस्वादी हुआ है वही जैनधर्मके रहस्यका श्रोता है। **।।१४२।।**

धनादि मिलना दुर्लभ नहीं है, परन्तु मनुष्य भव मिलना व ऐसा सत् श्रवण का योग मिलना दुर्लभ है। और उसे श्रवण कर उसकी प्रतीति करना तो महादुर्लभ है, अन्य कुछ भी दुर्लभ नहीं है। पूर्वके पुण्य उदय अनुसार पैसा मिलता है, यह कोई वर्तमानके पुरुषार्थका फल नहीं है। और ऐसे संयोग तो अनन्त बार मिले हैं - वह कोई दुर्लभ नहीं है। अनन्तकालमें धर्मको नहीं जाना-अतः वही दुर्लभ है।**।।१४३।।**

जीवको मरणकी पीड़ाकी अपेक्षा विषयोंकी पीड़ा बहुत असह्य व असाध्य लगती है, अतः ज्ञानस्वभावकी प्रीति करना सुखदायक है। (अन्यथा विषयोंकी दाह उत्पन्न हुए बिना नहीं

रहती)। **।।१४४।।**

अज्ञानीको वास्तविक उदासीनता होती ही नहीं। परद्रव्यके गुण-दोष दिखे ही नहीं तभी सच्ची उदासीनता होती है। परद्रव्यके गुण-दोष तो पूर्णतः जाने, परन्तु परद्रव्य मुझे हितकर है अथवा अहितकर है - ऐसा न माने, उसीका नाम परद्रव्यके गुण-दोष न दिखना है। शुभाशुभ भाव हानिकारक है तथा त्रिकाली स्वभाव लाभदायक है। इसके अतिरिक्त जगतका अन्य कोई पदार्थ आत्माको लाभ या हानिका कारण नहीं है - ऐसा समझना ही सच्ची उदासीनता है। **।।१४५।।**

जो जीव, सम्यक् सन्मुख हुआ है उसे अंतरंगमें अपना सम्यक् दर्शनरूपी-कार्य करनेका बहुत ही हर्ष है। इसीलिए वह उत्साहपूर्वक प्रयत्न करता है, प्रमाद नहीं करता, तत्वविचारका उद्यम करता है; और ऐसे ही उद्यम करते-करते केवल निज-आत्मा के विषयमें ही "यह मैं हूँ"- ऐसी अहम्-बुद्धि हो तभी सम्यग्दृष्टि होता है। **।।१४६।।**

अन्तरमें स्वरूप-सन्मुख होनेका अभ्यास करते-करते मिथ्यात्वरस एकदम घट जाता है, तथा इसप्रकार अभ्यास करते-करते स्वरूप-सन्मुख होने पर मिथ्यात्वका अभाव हो जाता है। यूँ उद्यम करें व प्रतिपक्षी कर्मका रस न टलें - ऐसा नहीं हो सकता है। जब सम्यक्त्व हुआ, तब मिथ्यात्व कर्मका अभाव हो जाता है - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, फिर भी कोई किसीका कुछ नहीं करता। अन्तरमें स्वरुप-सन्मुख होनेका उद्यम करना ही सम्यक्त्वका मूल कारण है।**।।१४७।।**

जीव क्या अजीव क्या ? - यह तो न जाने, तथा शरीरके रोगोंको दूर करने अथवा धनोपार्जन आदि उपायोंसे अपने दुःख दूर करना चाहे, तो वे उपाय तो झूठे हैं। दुःख तो जीवमें है और वह मोहके कारण है, अतः उस दुःखका जीवमें यथार्थ भानकर मोहका नाश करना ही दुःख दूर करनेका उपाय है। ।।१४८।।

प्रतिज्ञा तो तत्वज्ञानपूर्वक होनी चाहिए। सम्यग्दर्शन होनेके बाद व्रतादिके शुभ-विकल्प आते हैं। आनन्दस्वभावमें लीन होऊँ - धर्मीको ऐसी भावना होती है। प्रतिज्ञा लिए बिना, आसक्तिका नाश नहीं होता। प्रथम तो स्वभावका भान होना चाहिए। ।।१४९।।

स्वभावकी सामर्थ्य, विकारकी विपरीतता तथा संयोगोकी भिन्नताका निर्णय करे तों सम्यग्दर्शन हो। स्वयं समझपूर्वक दिशा-बदले तो कार्यकारी हो। निमित्त, राग व पर्यायकी रुचि छोड़कर, स्वभावकी रुचि करें - तो सभी पुरुषार्थ सच्चा है। ।।१५०।।

जिसकी भली होनहार है उसी जीवको ऐसा विचार आता है कि "मैं कौन हूँ" ? मैने कहाँसे आकर यहाँ जन्म लिया ? मर कर कहाँ जाऊँगा ? मेरा क्या स्वरूप है ? यह कैसा चरित्र-निर्माण हो रहा है ? आदि। वह इनके निर्णयमें लगता है कि आत्मा, शून्यमेंसे आया है अथवा पूर्व भवमेंसे? मैंने कौन से कुलमें जन्म लिया है ? मैं कौन हूँ तथा मर कर कहाँ जाऊँगा अर्थात् इस देहके छूटने पर कहाँ स्थिति

होगी ? ऐसा विचारवान श्रोता होना चाहिए। मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है ? और यह सब वर्तन कैसे हो रहा है ? खाना-पीना व्यापार-धन्धा आदि हो रही क्रियाएँ क्या हैं ? मुझे ये जो भाव होते हैं अर्थात् कुटुम्ब-व्यापार-शरीरादि संबंधित होने वाले पाप-भावोंका क्या फल होगा ? और यह जीव कैसे दुःखी हो रहा है - ऐसे विचार करनेवाला ही योग्य श्रोता है। **जिसको दुःख ही नहीं लगता वह पात्र श्रोता नहीं है।** ।।१५१।।

जो जीव, लौकिक-अनुकुलतामें ही खो गया हो यानी उसे वर्तमानमें दुःख ही न लगता हो, वैसा श्रोता धर्म-श्रवणके योग्य नहीं है। ।।१५२।।

जो धर्मबुद्धिवश निंद्य कार्योंका त्यागी हुआ है वैसा जीव ही शास्त्र-श्रोता होना चाहिए। **जो कार्य लौकिकरूपसे भी शोभा-जनक नहीं है उन कार्योंका करनेवाला श्रोता होने योग्य नहीं है और ऐसा जीव कभी वक्ता तो हो ही नहीं सकता।** ।।१५३।।

सम्यग्दृष्टि, निर्विकल्प अनुभवमें नहीं रह सकते इसलिए उन्हें भी शास्त्राभ्यासके भाव उठते हैं। ऐसे शुभरागको, निर्विकल्पअनुभवकी अपेक्षा हेय कहा है। निर्विकल्प-अनुभवमें रहना तो सर्वोत्तम है। परन्तु, छद्मस्थका उपयोग नीचली दशामें आत्मस्वरूपमें अधिक समय तक स्थिर नहीं रह पाता, अतः ज्ञानकी विशेष निर्मलता हेतु शास्त्राभ्यासमें बुद्धि लगाना योग्य है। निश्चयाभासी तो उसका सर्वथा निषेध करता है; परंतु अरे भाई ! तुझे अन्य राग तो आते हैं तो फिर शास्त्राभ्यास में

ही उपयोग लगाना योग्य है। उसमें जो राग है, सो तो दोष है; परन्तु तीव्र (अप्रशस्त) रागकी अपेक्षा शास्त्राभ्यासमें संलग्न रहना योग्य है। सम्यग्दर्शन होने पर कोई पूर्ण वीतरागता नहीं हो जाती। सम्यग्दर्शन होनेके बाद भी राग तो आता है। हाँ, जो निर्विकल्प-आनन्दमें ज्ञान पर्याय एकाग्र हो जाए तो श्रेयस्कर है; परन्तु जब निर्विकल्प आनन्दमें न रह सकें, तब स्वाध्याय, पूजा, देव-गुरुकी भक्ति आदि प्रशस्त राग कार्योंको छोड़कर, विकथा आदि निंदनीय-प्रवृत्तियोंमें लगनेसे तो महान् अनर्थ होता है। ।।१५४।।

जो जीव, आजीविका हेतु व्रतादि धारण करता है, विवाहादि संबंध होनेकी आशासे, मानादिके अर्थसे, भोजनादि की सुविधा हेतु, इत्यादि विषय-कषाय संबंधी प्रयोजनकी सिद्धिके लिए कपटसे जैनी होता है, वह तो पापी है। जैनधर्म तो संसारके नाशके लिए है, उसे संसार पोषणका साधन बनाना तो घोर अन्याय है। ।।१५५।।

जीव, वर्तमान उदयमें इतना रचा-पचा रहता है कि "भाविके सादि-अनंतकालमें मेरा क्या होगा" ? - इस विचार पर उसका वजन ही नहीं आता। ।।१५६।।

इस कालमें बुद्धि अल्प, आयु अल्प व सत्-समागम दुर्लभ है, उसमें हे जीव ! तुझे यही सीखने योग्य है कि "जिससे तेरा हित हो व जन्म - मरणका नाश हो"। ।।१५७।।

जो जीव पापकार्यों में तो उत्साहपूर्वक धन लगाता है और धर्मकार्यों में कंजूसी करता है उसे धर्म का सच्चा प्रेम नहीं है। धर्मप्रेमी गृहस्थ संसार की अपेक्षा धर्मकार्यों में अधिक उत्साह से वर्तता है। ।।१५८।।

जो अन्तर में समाये वही जैन है। बाहर के जितने भी प्रसंग बनते हैं वे सभी प्रकृति की चेष्टा है। जो विकल्प उठते हैं वे भी प्रकृति की चेष्टायें हैं। बाहर में जो कुछ होता है वह सब पुद्गल-परावर्तन के अनुसार होता ही रहता है। ।।१५९।।

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

३

वैराग्य

अन्तिम समय में समाधान रखने जैसा है। किस क्षण शरीर छूट जायगा उसका विश्वास करने जैसा नहीं है। शरीर क्षणभंगुर है, नश्वर है। चमड़े की चादर से मढ़ा हुआ हड्डियों का पिंड क्षणमें राख बनकर उड़ जायेगा। अरे ! सारा घर एकसाथ नष्ट हो जाये-ऐसी घटनाएँ सुनी हैं। वह कहाँ अविनाशी वस्तु है! सहजात्मस्वरूप एक आत्मा ही अविनश्वर है, सारा जगत अनादि से अशरणरूप है; भगवान आत्मा ही शरणरूप है। ।।१।।

(दिन-प्रतिदिन होनेवाली अकस्मात-देहान्त की घटनाएँ सुनकर पुज्य गुरुदेव वैराग्यभरे शब्दों में कहते है।-) हे भाई! यह शरीर तो क्षणमें छूट जायेगा। शरीरका संयोग तो वियोगजनित ही है। जिस समय आयुकी स्थिति पूर्ण होना है उस समय तेरे करोड़ों उपाय भी तुझे बचा सकनेमें समर्थ

नहीं हैं। तू लाखों रूपये खर्च कर या करोड़ों...चाहे तो विलायतके डाक्टर बुलवा ले, लेकिन यह सब छोड़कर तुझे जाना पड़ेगा। देहावसानकी ऐसी नियत स्थितिको जानकर, वह स्थिति आ पहुँचे उससे पूर्व ही तू चेत जा! अपने आत्माको चौरासीके चक्कर से बचा ले। आँख मिंचनेसे पहले तू जागृत हो जा। आँख मिंचनेके बाद कहाँ जायेगा उसकी तुझे खबर है? वहाँ कौन तेरा भाव पूछेगा ?-फिर यहाँ लोग क्या कहेंगे और समाजका क्या होगा ऐसे मोहजालमें फँसकर क्यों अपने आत्माको उलझा रहा है ? ।।२।।

निगोदके जीवको एक श्वासमें अठारह भव होते हैं। एक अंतर्मुहूर्तमें अर्थात् अडतालीस मिनिटमें ६६३३६ भव निगोदका जीव करता है - ऐसा भगवान सर्वज्ञने देखा है। अहाहा! एक अंतर्मुहूर्तमें ६६३३६ भव धारण करे, वह दुःख कितना होगा ? उसे सुनकर भीतरसे आघात लगना चाहिये। ऐसे दुःख तो अनन्तकाल तक सहे हैं। अरे ! नरकके दुःख भी इतने हैं कि करोड़ों जिह्वाओं द्वारा करोड़ों वर्ष तक कहे नहीं जा सकते। इतने दुःख तूने अनंतबार भोगे हैं। भाई! अब मनुष्यभव प्राप्त हुआ है तो उन दुःखोंसे छूटनेके लिये ऐसे दुःखोंसे रहित अर्थात् उनके कारणभूत शुभाशुभभावसे रहित परम आनन्दस्वरूप आत्मा है, उसकी पहिचान और दृष्टि कर तो भवके दुःखोंसे छूटकारा हो। ।।३।।

किसीको फांसीकी सजा हुई हो और जब उसे फाँसीके मंच पर ले जाते हैं तब वह कैसा थरथराने लगता है! उसी

प्रकार जो संसारके दुःखोंसे भयभीत हो गया है, उसके लिये यह बात है। ।।४।।

एक गाँवसे दूसरे गाँव जाये तो पाथेय (नाश्ता) साथ लेकर जाता है, तब फिर अन्य भवमें जाने के लिये कुछ पाथेय होना चाहिये या नहीं ? श्रद्धा-ज्ञानका पाथेय साथ लेकर जाना चाहिये। स्त्रीके सामने देखे तो पाप, बच्चोंके सामने देखे तो पाप, पैसेके सामने देखे तो पाप, परकी ओर देखनेसे सर्वत्र पाप....पाप....और....पाप है। अरे! उसे जाना कहाँ है ? राग और मैं एक हूँ - ऐसा मिथ्यात्वका पाथेय लेकर जाना है ? मैं तो रागसे भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ - ऐसा पाथेय लेकर जाये तो उसे आगे बढ़नेमें काम आयेगा। भीतर असंख्य प्रदेशमें गहराई तक ध्रुवधरातलमें पर्यायको ले जाना है। यह तो धीरोंका-वीरोंका काम है। ।।५।।

अहाहा! क्षणमें अनेक प्रकारके विचित्र रोग हो जायें - ऐसा यह शरीर है, कहाँ शरीर और कहाँ आत्मा! उनका दूर दूर तक कहीं भी कोई मेल नहीं है। अहाहा! ऐसा दुर्लभ मनुष्यशरीर प्राप्त हुआ और यह वीतरागका मार्ग महाभाग्यसे मिला है, उसे मनका बोझ अत्यन्त कम करके आत्माको समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। पाँच इन्द्रियों की वृत्तिका बोझ कम करके आत्माको पहिचानने के विचारमें रूक जाना चाहिये। भीतर अनंत आनंदादि स्वभाव भरे हैं, ऐसे स्वभावकी महिमा आये उसे अंतर पुरुषार्थका उद्‌भव हुए बिना रहेगा ही नहीं। ।।६।।

जिसे आत्माकी यथार्थ रुचि जागृत हो, उसे चौबीसों घन्टे वही चिंतन, मंथन, मनन बना ही रहता है; नींदमें भी वही रटन चला करता है। अरे! नरकमें पड़ा नारकी भीषण वेदना सह रहा हो, किन्तु पहले सत्‌श्रवण किया हो तो उसका स्मरण करके झटसे अंतरमें उतर जाता है, उसे प्रतिकूलता बाधक होती ही नहीं; और स्वर्गकी अनुकूलतामें रहा हो, तथापि अनुकूलताका लक्ष छोड़कर अंतरमें उतर जाता है। और यहाँ किंचित् प्रतिकूलता हो तो अरे, मुझे ऐसा लग रहा है, मुझे यह कष्ट है...इस प्रकार अनन्तकाल गँवाया। अब उसका लक्ष्य छोड़कर अंतरमें उतर जा, भाई! उसके बिना अन्य कोई सुखका मार्ग नहीं है। ।।७।।

आजकल तो मोटर, रेलगाड़ी, हवाई जहाज आदि की दुर्घटनाओं में कितने ही लोगों के मरने की खबरें सुनाई देती हैं। आँख खुले और स्वप्न चला जाये, उसी प्रकार शरीर और भव क्षणभर में विलुप्त हो जाता है। हृदयाघात होने से क्षण में छोटी-छोटी उम्र के लोग भी चले जाते हैं। अरे! यह सं...सा...र...! नरक में अन्न का कण भी नहीं मिलता, पानी की बूँद नहीं मिलती और प्रतिकूलता का तो कोई पार नहीं...ऐसी स्थितिमें अनंतबार गया है, किन्तु वहाँ से निकलते ही सब भूल गया ! उसका जरा विचार करे तो सब दुःखोंसे छूटने का मार्ग ढूँढे। अहा ! ऐसा मनुष्यभव प्राप्त हुआ और ऐसा सत्य समझने का सुयोग मिला, उसमें अपने आत्मा का हित कर लेने जैसा है। ।।८।।

वर्षाऋतुमें जो यह हरी काई का बिछौना देखते हैं तब ऐसा लगता है कि अरे ! इस हरी काई के एक सूक्ष्म टुकड़ेमें असंख्य शरीर हैं और एक शरीर में अनंत जीव हैं; उनके अनंतवें भाग के जीव बाहर निकलकर मोक्ष जाते हैं। एकेन्द्रिय में हैं अभी अरेरे ! वे जीव कब निगोदसे बाहर निकलेंगे ? कब मनुष्य होंगे ? और कब सत्का श्रवण करेंगे ? भाई ! यह मनुष्यभव और दुर्लभ सत्समागम प्राप्त हुआ है तो अपने आत्मा को चार गतियों के दुःख से छुड़ा ले ! ।।९।।

अहाहा ! पर्यायदृष्टिवाला कहाँ जायेगा ? संयोगसे छूटना उसे अच्छा नहीं लगता, इसलिये चींटी, कौआ, लट, नरकादि गतियों के संयोग में चला जायेगा। स्वभावदृष्टिवाले को संयोग की रुचि नहीं होती, इसलिये सर्व संगसे छूटकर मुक्त हो जायेगा। ।।१०।।

आत्मा चाहे जैसे संयोग में भी अपनी शान्ति प्रगट कर सकता है। अपनी शान्ति प्रगट करने में उसे जगतका कोई बाह्य पदार्थ विघ्नकर्ता नहीं हो सकता। चाहे जैसे कठिन प्रसंग आ पड़े, पुत्र मर जाये, पुत्री विधवा हो जाये, जंगल में अकेला भटक जाये और हैजा आदि बीमारियाँ आ जायें, क्षुधा-तृषाकी भीषण वेदना हो या सिंह-बाघ फाड़कर खाने को आ रहा हो अथवा चाहे जैसी भयंकर दुर्घटना हो जाये, तब भी उस संयोगका लक्ष्य छोड़कर आत्मा अंतर में अपनी शान्ति प्रगट करने में समर्थ है। बाह्य की कोई प्रतिकूलता आंतरिक

आत्मशान्ति को नहीं रोक सकती। शास्त्रों में तो कथन है कि नरक की एक क्षण की पीड़ा इतनी भयंकर है कि कोटि जिह्वाओं द्वारा करोड़ों वर्ष तक कही जाये, तब भी कही नहीं जा सकत। तथापि वहाँ भी उन संयोगोंका तथा उस पीड़ाका लक्ष्य छोड़ दे तो आत्मा अपनी शान्ति प्रगट कर सकता है। भाई ! तेरा तत्व तत्काल फल देनेवाला है। उसमें लक्ष्य करके अपनी शान्ति प्रगट की जा सकती है। ।।११।।

अहो ! ८० वर्षकी आयुवाला २० वर्षसे लेकर ६० वर्ष तक इस भव की चिन्ता करता है, परन्तु ८० वर्षके बादका जो समय उसकी जरा भी चिन्ता नहीं करता - यह कैसी धीठता है ! ८० वर्ष के बाद का जो पहला समय, वह पूरा भव भी इसी आत्मा का है; कहीं दूसरे आत्मा का वह भव नहीं है। धूप-छाँव के बीच अंतर नहीं है; उसी प्रकार दो भवों के बीच अंतर नहीं है, इसलिये दूसरे भव की तो चिन्ता कर ! ।।१२।।

स्वयं भगवान होनेपर भी बाह्य संयोगोंसे - स्त्री-पुत्र, धन, मकान, सिनेमा, आदि जड़ वस्तुओं से - सुख की भीख माँगता है। तृष्णारूपी तपेदिक हो गया है, उससे पीड़ित होकर इन्द्रियविषयों से सुख की भीख मांगता है। परन्तु प्रतिकूलता, रोग, निर्धनता आदि दुःख के साधन मिलने से जैसी आकुलता होती है, वैसी ही आकुलता तृष्णारूपी रोग से होती है। इस जीव ने अनंतबार देव, मनुष्य, राजा, आदि के वैभव प्राप्त किये हैं, परन्तु यह तृष्णारोग नहीं मिटा, क्योंकि

आत्मरुचिरूपी जल के बिना तृष्णाग्नि का शमन नहीं हो सकता। ।।१३।।

शरीरमें छेदन-भेदन आदि प्रतिकूलता हो, वह वास्तव में दुःख नहीं है, परन्तु संयोग के ओर की वृत्ति - झुकाव से मानसिक चिन्ता करता है उसका दुःख है। उसी प्रकार स्वर्ग में बाह्य अनुकूलता होती है उसमें कहीं सुख नहीं है, वहाँ भी संयोग के ओर की वृत्ति - झुकाववाला जीव मानसिक चिन्ता से दुःखी ही है। जिसे स्वभाव की दृष्टि नहीं है, रागरहित ज्ञान प्रगट नहीं हुआ है और बाह्य पुण्य तथा पुण्यफल की मिठास है, वह जीव बाह्य में दूसरोंके पास अपने से अधिक ऋद्धिका संयोग देखकर मन में आकुलता से दुःखी होता है। उसे समस्त जगत की ऋद्धि का संयोग प्राप्त करने की भावना है। भीतर सारी चैतन्यऋद्धि पड़ी है, उसकी उसे खबर नहीं है इसलिये बाहर अधिक संयोग लेना चाहता है।।।१४।।

अहा हा ! कठिन काम है भाई ! अंतरमें वैराग्य.... वैराग्य....! यह सब तो बिखर जायेगा। जो बाहर का है वह तुझ में नहीं है और तेरे कारण नहीं आया है। तुझ में भ्रमणा उत्पन्न हुई है, उसका नाश करने का यह काल है। ।।१५।।

यह तो बहिर्मुख लक्ष्य को अन्तर्मुख करने की बात है। `लाख बात की बात यहै निश्चय उर लाओ' - यह अन्तर्मुख होकर आत्मा को ध्याने की एक ही बात है। ।।१६।।

शुभाशुभभाव में दुःख और स्वभावमें आनन्दका अनुभव

हो तब रुचि कहलाती है। संसारमें बालबच्चों की रुचि है, उससे अनन्तगुनी रुचि होनी चाहिये। ।।१७।।

अहा ! देखो न, प्रतिक्षण मृत्यु की ओर जा रहा है..... यदि वह आत्मा की ओर नहीं जायेगा - आत्मोन्मुख नहीं होगा तो मृत्युकाल में आकुलित हो जायेगा।।।१८।।

स्वर्ग के देवों की बात सुनकर अनेक लोगों को आश्चर्य होता है, परन्तु भाई ! वह स्वर्ग कोई आश्चर्यकारी वस्तु नहीं है। तू भी अनन्तबार वहाँ हो आया है। स्वर्ग के अनन्त अवतार हों तब मनुष्य अवतार एकबार मिलता है; अन्य प्रकार से कहें तो असंख्य जीव जब स्वर्ग में जाते हैं तब मात्र एक जीव मनुष्यगति में आता है। ऐसा महँगा मनुष्यभव है जबकि देवपना तो उसकी अपेक्षा अनन्तगुना सस्ता है। ।।१९।।

आत्मा के अज्ञान से चार गतियों में भ्रमण करते हुए जीव ने सब से अधिक भव एकेन्द्रियादि तिर्यंचगति के धारण किये हैं। तदुपरांत मनुष्य, नरक और स्वर्ग के भव भी अनन्तबार किये हैं। उनमें भी मनुष्य की अपेक्षा नरक के और नरक की अपेक्षा स्वर्ग के भव अनन्तगुने किये हैं। असंख्य भव स्वर्ग के और नरक के करे तब एक भव मनुष्य का मिलता है; - ऐसी मनुष्यभव की दुर्लभता है, और ऐसे दुर्लभ मनुष्यभव में जैनधर्म का वीतरागी उपदेश सुनने को मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव और वीतरागी जैनधर्म का उपदेश तुझे वर्तमान में महाभाग्य से प्राप्त हुआ

है, तो अब तू शीघ्र जाग, सावधान हो और आत्मा की प्रतीति द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट करके भवदु:ख का अन्त कर। ।।२०।।

राम-लक्ष्मण बलदेव-वासुदेव हैं, रावण प्रतिवासुदेव है, उसे लक्ष्मण मारते हैं और उसका अग्निसंस्कार करने जाते हैं। रावण की पत्नी से कहते हैं कि हे माता! हम बलदेव-वासुदेव हैं, क्या किया जाये, अन्य कोई उपाय नहीं था। होनहार हुए बिना नहीं रहती। माता ! हमें क्षमा करना। राग-द्वेष की प्रवृत्ति हुई परन्तु उसका अन्तर में खेद है। अरे ! यह हमारा काम नहीं.....हम तो अंतर में रमनेवाले राम हैं। ।।२१।।

एक-एक दो-दो वर्ष तक बीमारी चलती रहे, बिस्तर में पड़े-पड़े शरीर में चाँदे पड़ जायें, इल्लियाँ पड़ जायें, वेदना सहन न हो, शरीर छूटता नहीं है और यह उसे छोड़ता नहीं है (यह उससे छूटकर अन्तर्मुख नहीं होता - भेदज्ञान नहीं करता) हेरान-परेशान हो जाता है। अरे, उसका जो होना हो भले हो, तू उससे पृथक् होकर देखता रह न! ।।२२।।

पहले अकेला था, उसमें अब पत्नी आयी इसलिये पशु की भाँति चौपाया हुआ। फिर पुत्र होनेपर षट्पद अर्थात् भँवरा हुआ और पुत्रवधू के आनेपर आठ पगवाला मकड़ा हुआ। फिर अपनी ही लार निकाल-निकालकर उसमें फँसता गया-बँधता गया ! ।।२३।।

जिसे ऐसा लगे कि मेरा जीवन निष्फल गया, वह सफलता का मार्ग लेता है। ।।२४।।

धूलकी (पैसेकी) कीमत तो मरने के लिये है। जो धूल की कीमत करते हैं वो अपने को मार डालते हैं। धूल की कीमत तो नहीं लेकिन राग की कीमत भी करने योग्य नहीं है, शुभराग की कीमत करते हैं वो अपने को मार डालते हैं ! ।।२५।।

महामुनियोंको राजा आदिका संग भी मरणतुल्य लगता है। पुण्यवंत के संग में सब बराबर रखना पड़ता है....इसलिये पुण्यवानों से वैरागियों को दूर रहना अच्छा है। ।।२६।।

नरक की असह्य वेदना में भी अरेरे ! यह दु:ख ! ऐसे विचार करके उस वेदना का लक्ष्य छोड़कर कोई जीव किसी समय धर्मसन्मुख हो जाता है। नरक की उस असह्य पीड़ाकी तो क्या बात कहें ? जिस प्रकार पारा छोटे-छोटे कण बिखर जाते हैं और फिर इकट्ठे हो जाते हैं; उसी प्रकार नरक के दु:खों से शरीर के छोटे-छोटे टुकड़े होकर फिर मिल जाते हैं - ऐसी महान पीड़ा यह जीव अनन्त बार सहन कर चुका है, तथापि यहाँ मनुष्यभव में आकर सब भूल जाता है और मुझे अमुक अनुकूलता चाहिये, अमुक वस्तु के बिना मेरा नहीं चल सकता.....ऐसे ही ऐसे मनुष्यभव हार जाता है, परन्तु उसे कहाँ आत्मा की परवाह है ? ।।२७।।

मुनिराज कहते हैं कि जो जीव नरकगति में जाकर सुलट जाता है, सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है, उसके लिये

वह कुगति भी अति श्रेष्ठ है; क्योंकि कोई जीव पाप करके नरक की कुगति में जाये और फिर एकदम मोक्षमार्ग में लग जाये तो वह पाप का फल भी श्रेष्ठ हुआ; और कोई अज्ञानी दया-दान-व्रत-तपादि करके स्वर्ग में जाये और वहाँ से एकेन्द्रियादि में उत्पन्न हो तो वह देवपर्याय का मिलना भी किस कामका ? इसलिये अज्ञानी का देवपद प्राप्त करना वृथा है। कोई ज्ञानी पुरुष सम्यग्दर्शनसहित पुण्य के फलरूप स्वर्ग प्राप्त करे और वहाँ से निकलकर मनुष्यभव में मुनि होकर मोक्ष चला जाये तो उसके समान श्रेष्ठ और क्या होगा ? तथा कोई जीव नरक से निकलकर मनुष्य होकर चारित्र धारण करके मोक्ष प्राप्त करे तो वह भी उत्तम है। ।।२८।।

प्रभु ! जो भाव तेरे स्वरूप में नहीं हैं, उन्हें तू अपना बनाने की आकांक्षा करता है, तो तुझे ऐसी आकांक्षा करके कहाँ जाना है? उसका फल क्या है उसकी तुझे खबर है ? शरीर तो छूटेगा ही, आत्मा का नाश तो कभी होता नहीं है, तो यह शरीर छोड़कर कहाँ जायेगा? जिसने राग और पुण्य की क्रिया का सेवन किया है, उससे लाभ माननेरूप मिथ्यात्व का सेवन किया है, वे भविष्य में भी मिथ्यात्व में रहेंगे। मिथ्यात्व के गर्भ में नरक और निगोद के अनंत भव करने की शक्ति है; वहीं अनंतकाल रहेंगे। भिन्न आत्मा का सम्यग्दर्शन होनेपर अनादि भवसंतति का छेद हो जाता है, क्योंकि अनंत ज्ञान एवं अनंत आनन्द जिसके फल में

प्रगट होता है - ऐसा कारण उसने प्राप्त किया है। अंतर में अभेद ज्ञायक आत्मा का पूर्ण आश्रय करने पर आत्मा गुणरूपी अनंत पंखुरियों से खिल उठता है। ।।२९।।

मुनि कहते हैं कि अरे प्रभु ! हमें आश्चर्य एवं खेद होता है कि शरीरादि परद्रव्य से प्रत्यक्ष भिन्न होनेपर भी उसे तू अपना मानता है ? अरे ! क्या करता है भाई ! चौरासी के अवतारों में भ्रमण करते-करते कठिनाई से मनुष्यभव मिला और ऐसा सत्य समझने का सुयोग प्राप्त हुआ; अब तो शरीर से भिन्न चैतन्य प्रभु का अनुभव कर ! ।।३०।।

अहो ! शरीर पर प्रहार होते हों और भीतर आत्मा में शान्ति का वेदन चलता रहता है। दुनिया देखती है कि दुःखी हैं, ज्ञानी देखते हैं कि सुखी हैं। ।।३१।।

संयोग को और रागको जो अपना मानता है वह प्राणी राजा हो या देव हो, परन्तु वह पामर प्राणी है, भिखारी है। ।।३२।।

कोई भारी प्रतिकूलता आ पड़े, कोई बड़े कठोर मर्मछेदक वचन कहे तो शीघ्र ही शरीरमें स्थित परमानन्दस्वरूप परमात्माका ध्यान करके शरीरका लक्ष्य छोड़ देना; समताभाव रखना। ।।३३।।

एक विचार आया था कि सरकारी नौकरोंको भी ५५-५६ वर्ष की आयु में नौकरी से निवृत्त कर देते हैं तो इन सेठों-व्यापारियों के लिये ऐसा कोई कानून नहीं होगा कि ५५-५६ वर्ष की उम्र में धंधे से निवृत्त होकर अपने

आत्मा का हित करें ? आहाहा ! आजीविका मिलने में कमी न हो, पैसा का पार न हो फिर भी निवृत्ति लेकर अपने आत्मा का हित नहीं करते, उन्हें मरकर कहाँ जाना है ? अरे ! ममता के परिणाम में मरकर तिर्यंच बकरी आदि के पेट से जन्म लेंगे !

श्रीमद् राजचन्द्र तो कहते हैं कि - मुमुक्षुओंको आजीविका जितना मिलता हो तो विशेष प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये। यह तो रोटला मिलते हो तो सिर पर पोटला बाँधता है। अरेरे ! जाना कहाँ है ? जीवन थोड़ा है और यह क्या करते हो भाई ! ऐसा मनुष्यभव मिला है और सत् समझने का अवसर आया है तो चार छह-आठ घन्टे स्वाध्याय-श्रवण-मनन-सत्समागम करके अपने आत्माका कुछ हित करके मानवजन्म सफल कर ले। ।।३४।।

नरक में भयंकर दुःखोंमें एक क्षण बिताना भी कठिन होता है वहाँ सागरोपम काल की आयु कैसी पूरी हुई होगी ? प्रभु ! भवभ्रमण के अभाव का तूने कभी प्रयत्न नहीं किया, इसलिये ऐसे असह्य दुःख तूने सागरोपम तक अनंतबार भोगे हैं। नरक के दुःख करोड़ों जीभों से और करोड़ों भव में नहीं कहे जा सकें - ऐसे दुःख तूने सहन किये हैं। प्रभु ! जो दुःख सुने न जा सकें उनमें अनंतानंतकाल बिताया है। अनंतकाल में एकबार मिले तब भी अनंतबार मनुष्यभव मिला, और उसकी अपेक्षा असंख्य गुने अनंत नरक के भव तूने किये, वहाँ असह्य दुःख सहन किये, उनका गंभीरता से

विचार तो कर भाई ! ।।३५।।

अरेरे ! यह शरीर छूट जायेगा भाई ! कहाँ जाकर उतरेगा ? भीतर अपनी ज्ञायकवस्तु की दृष्टि नहीं की और राग के प्रेम में रुक गया तो चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करेगा; क्योंकि आत्मा तो अनंतकाल रहनेवाला है। यह शरीर तो छूट जायेगा न ? फिर कहाँ रहेगा ? जिसे राग का रस है, वह तो मिथ्यात्व में - परिभ्रमण में रहेगा और जिसे आत्मा का रस है, वह तो सादि - अनंतकाल आत्मा में - सुख में रहेगा। ।।३६।।

प्रभु ! तुझ में अनन्तानन्त अगाध शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजआनन्द, सहज वीर्यादि अनंत गुण - जिनकी अनन्तता का कोई पार नहीं ऐसी अनन्तानन्त शक्तियाँ-तुझ में सदा विद्यमान हैं। तुझ में तेरा वैभव भरपूर पड़ा है, उसमें कुछ भी बाहर से नहीं लाना है। समस्त विश्व को एक समय में जाननेवाला ऐसी अनन्त सामर्थ्यवाली केवलज्ञान की एक समय की पर्याय और ऐसे अन्य अनन्त गुणों की एक समय में परिपूर्ण पर्याय - यह सब प्रगट होने की अगाध शक्ति तेरेमे है। प्रभु ! तू अन्यत्र कहाँ खोजने जाता है ? अरेरे ! कस्तूरी अपने पास होनेपर भी हिरण खोजने को दौड़ता है जंगल में ! इस जीव की शक्ति है भीतर, और खोजने जाता है बाहर। वह भी हिरन जैसा ही है - 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति। 'जिसे अपनी अगाध शक्ति की प्रतीति और ज्ञान नहीं है वह राग को तथा पर को अपना मानकर,

मृग की भाँति चार गतियों में भटकता है। ।।३७।।

परमात्मतत्व के ज्ञान बिना भ्रान्तिगतरूप से जीव शुभाशुभ का कर्ता होता हुआ शुभभाव की रुचि के समक्ष मोक्षमार्ग की लेशमात्र वांछा नहीं करता, उसकी भावना नहीं भाता - ऐसे अज्ञानी जीव को इस लोक में कुछ भी शरण नहीं है। अज्ञानी जीव लोक में अशरणरूपसे भ्रमण करता रहता है। ।।३८।।

ज्ञानमें ऐसा निश्चयत् तो कर ! वस्तु का स्वरूप ऐसा है, उसके निर्णय को ज्ञान में अवकाश तो दे भाई ! अरे, मरकर कहाँ जाना है ! प्रत्येक योनि में अनन्त भव बिताये; अब परसे लक्ष हटाकर आत्मा में डुबकी लगा ! तू अपने घर में प्रवेश कर न ! यह सब शुभविकल्प होते हैं, परन्तु वह तेरे घर की वस्तु नहीं है, भगवान ! तू तो शरीर की पीड़ा और राग की पीड़ा - दोनों से भिन्न है। उस शरीर के रोग की तुझे जो अरुचि है, वह तो द्वेष है - वह एक भी वस्तु तेरे घर में नहीं है। ।।३९।।

भाई ! हम तो आत्मा हैं और आत्मा तो एक समय की पर्याय के समीप, पर्याय से भिन्न, शुभाशुभराग से भिन्न, शरीर-वाणी लक्ष्मी तथा नाम से भी भिन्न भीतर पाताल में पड़ी हुई ज्ञायक वस्तु है। आत्मवस्तु सदा अपना ध्रुव परिपूर्ण सामर्थ्य रखकर रही है, वह कहीं एक समय की पर्याय में सम्पूर्ण नहीं आ गई है। अरेरे ! तत्व की ऐसी बात जीव को कहीं सुनने को भी नहीं मिलती ! जीवन चला जा रहा है, मौत

का नगाड़ा सिरपर बज रही है। एक समय ऐसा आयेगा कि तेरी यह सुन्दर काया राख होकर मिट्टी में मिल जायेगी -

तीतर खाये बाज ज्यों, बगला मछली खाय,
जलकर होगी राख त्यों, तेरी कंचन-काय।

मृत्यु चेतावनी देकर नहीं आयेगी कि 'मैं आ रही हूँ, तैयारी रखना।' क्या मृत्यु कहकर आती है ? शरीर जड़ है, संयोगी है, वह तो अवधि समाप्त होनेपर पृथक् हो जायेगा। ।।४०।।

कोई पुरुष वनक्रीड़ा करने वन में जाये और वहाँ वैराग्य उत्पन्न होने से, वस्त्र उतारकर मुनि हो जाये और ध्यान में लीन होकर केवलज्ञान प्राप्त कर ले ! अहाहा ! अंतर में स्वयं प्रभुत्वशक्ति से परिपूर्ण है न ! क्षण में केवलज्ञान लेने की उसमें शक्ति पड़ी है। किसीको उसका शत्रु पानी में डुबो दे और वह केवलज्ञान प्राप्त करता है, किसी को घानी में पेले और वह केवलज्ञान ले, किसी को पर्वत से फेंके और वह केवल प्राप्त कर ले। अंतर में प्रभुत्व आदि शक्तिरूप स्वभाव में उपयोग एकाग्र हुआ वह बाह्य प्रतिकूलता को नहीं देखता। ।।४१।।

एक-दो घड़ी शरीरादि मूर्तिक द्रव्यों का पड़ौसी होकर ज्ञायकभाव का अनुभव कर। जिस प्रकार राग और पुण्य का अनुभव करता है वह तो अचेतन का अनुभव है, चेतन का नहीं; इसलिये एकबार मरकर भी, शरीरादि का पड़ौसी होकर, घड़ी-दो घड़ी भी ज्ञायक का लक्ष्य करेगा तो तुरन्त आत्मा

और राग की भिन्नता हो जायेगी और जैसा तेरा आत्मस्वरूप है, वैसा तुझे अनुभव में आयेगा। ।।४२।।

अरे प्रभु ! तूने सच्चिदानन्दस्वरूप निज ज्ञायकतत्व की दृष्टि कभी नहीं की, उसका आश्रय नहीं किया और 'पुण्यभाव से मेरा कल्याण होगा', - इस प्रकार उसका आश्रय करके मिथ्यात्वभाव का सेवन किया। मिथ्यात्वभाव के कारण चौरासी लाख योनियों में अनंतबार अवतार लिये। अहा ! नरक के वे भयंकर दुःख ! भगवान ऐसा कहते हैं कि नरकगति के एक क्षण के दुःख करोड़ जिह्वाओं द्वारा और करोड़ भवों में नहीं कहे जा सकते; वह तो जीव उन्हें भोगे और केवली उन्हें जानें ! नरक के एक क्षण के दुःखों का वर्णन रत्नकरंड श्रावकाचार (पं. सदासुखदासजीकृत टीका) और छहढाला में किया है। भाई ! तू उत्कृष्ट तेतीस सागर तथा जघन्य दस हजार वर्ष की तथा एक-एक समय बढ़ने से बीच की असंख्य प्रकार की स्थिति से नरक में अनन्तबार जन्मा! उन दुःखों की भयानक वेदना ! अरे, तूने उनका विचार तक कभी नहीं किया। अब तो उन भीषण दुःखों का अन्त करने के लिये एकबार सम्यग्दर्शन तथा स्वानुभूति प्रगट कर। ।।४३।।

अरेरे ! जीव अनन्तानन्त काल से भटक रहा है। आयु पूरी होनेपर जीव तो यह शरीर छोड़कर चला जाता है। कहाँ गया उसकी कोई खबर पड़ती है ? अनजान द्रव्य में, अनजान क्षेत्र में, अनजान काल में तथा अनजान भव में तुझे जाना है, उसकी खबर नहीं है भाई ! जबतक मिथ्यात्व

का भाव है, तबतक एकके बाद एक स्थानों पर जन्म धारण करना है। अरबपति मरकर बकरी के पेट में जाता है, सुअर होता है। दुनियाको कहाँ उसकी खबर पड़ती है भाई ! अपनी वस्तु को पहिचानकर यदि उसको परिणमित नहीं किया तो संसार का रोग दूर नहीं होगा। ।।४४।।

बाह्य में सुख है ही नहीं। सुन्दर शरीर, स्त्री, लक्ष्मी आदि में तो सुख है ही नहीं, वे तो कहीं दूर रह गये; परन्तु भीतर जो पुण्य के भाव होते हैं उन में भी सुख नहीं है। शुद्ध बुद्ध सुखकन्द प्रभु तो भीतर पृथक् विराज रहा है। इन बाह्य विषयों को जाननेवाला भीतर भिन्न है और जो जानने में आती हैं वह वस्तुएँ भिन्न हैं। भिन्न का सुख भिन्न वस्तुओं में कहाँ से होगा ? ऐसी बात है भाई ! यह मार्ग ही कोई भिन्न है। अनंतकाल में यह अमूल्य मनुष्यपर्याय प्राप्त हुई उसमें यदि आत्महित नहीं करेगा तो कब करेगा ? यह मनुष्यभव बारम्बार नहीं मिलेगा। यह अवसर चूक गया तो फिर पता नहीं चलेगा। प्रभु ! सुख अंतर में है; बाहर खोजनेसे नहीं मिलेगा। ।।४५।।

जिसे ऐसा लगे कि मैं दुःखी हूँ, वह सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। परपदार्थ में ठीकपना और अठीकपना लगना वही दुःख का लक्षण है; अपनी शान्ति के लिये पर का आश्रय लेना पड़े वही दुःख है। ।।४६।।

अरे जीव ! अनंत संसारमें परिभ्रमण करते हुए तूने बहुत दुःख सहन किये हैं-नरकादि के घोर से घोर दुःखोंसे

भी तू आरपार हो गया। परन्तु विराधक भावके बदले एकबार यदि तू आराधक भावसे उन सब दु:खों के पार निकल जा, अर्थात् चाहे जैसी प्रतिकूलता आये तब भी आराधक भावसे न डिगे तो फिरसे इस संसारका कोई दु:ख तुझे न आये और तुझे अपना सुखधाम प्राप्त हो जाये। ।।४७।।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव अष्टपाहुड ग्रन्थमें कहते हैं कि हे जीव ! भूतकालमें तूने इतनी माताओं को अपनी मृत्युके बाद रुलाया है कि तेरे प्रत्येक भवकी उन माताओंके आँसू एकत्रित करने से समुद्र भर जायें ! ऐसे अनंत भूतकालकी अपेक्षा तेरा भविष्यकाल अनन्तगुना बड़ा है; यदि अपने आत्माकी सम्हाल नहीं की और शरीर, धन, परिवारमें ही इस अमूल्य मनुष्यभवको गँवा दिया तो तेरा भविष्यकाल भी भूतकालकी भाँति अनन्त दु:खोमें ही व्यतीत होगा, कालकी इस अनन्तता गंभीरतासे विचार करके भूतकालके दु:खोंका स्मरण करके फिर ऐसे दु:ख न भोगना पड़ें उसके लिये अब जाग्रत हो। एकबार तो अपने आत्मा पर दया कर! ।।४८।।

श्रोता :- भूतकालके दु:खोंको किसलिये याद करना ?

पूज्य गुरुदेव :- ऐसे दु:ख फिर न आयें उसके लिये याद करके वैराग्य उत्पन्न करते हैं। मुनिराज भी भूतकाल के दु:खों को याद करके कहते हैं कि मैं भूतकालके दु:खोंका स्मरण करता हूँ, तब हृदय पर चोट लगती है। देखो! मुनि सम्यग्दष्टि हैं, आनन्दका वेदन है, तथापि भूतकालके दु:खोंका स्मरण करके फिर वे दु:ख न आयें उनके लिये वैराग्य बढाते

हैं। ।।४९।।

दुनियाकी दुनिया जाने, तू अपना कर। दुनिया तो उसके परिणमन अनुसार परिणमित होगी, तेरा किया कुछ नहीं होगा। ।।५०।।

चूहे फूँक-फूँककर पॉव आदि खाते हैं न! चूहे फूँक मारकर काटते हैं, इसलिये नींदमें खबर नहीं पड़ती। उसीप्रकार यह स्त्री-पुत्रादि प्रशंसा कर-करके खाते हैं, इसलिये मूढको पता नहीं चलता!

श्रोता :- यह तो सब घरमें झगड़ा हो ऐसी बातें हैं!

पूज्य गुरुदेव :- शास्त्रकार भी कहते हैं न ! कि कुटुम्बीजन ठगोंकी टोली है, भाई! जिसे साँपका विष चढ़ा हो उसे कडवा नीम भी मीठा लगता है। उसीप्रकार यह संसार विष समान होनेपर भी मोही जीवको मीठा लगता है। इसलिये उसे जिनवाणी का अमृतपान कराके निर्मोही बनानेके लिये जैसी वस्तुस्थिति है, वैसी कही जाती है। यहाँ तो भवका अभाव करनेकी तथा परभव सुधारनेकी बाते हैं।।५१।।

पर्यायमें जो राग होता है, उसे आत्मारुपमें अनुभवनेवालों को आत्मा तिरोभूत हो गया है। रागके सम्बन्धमें - रागकी रुचिमें पड़ा है, उसे एकरुप ज्ञायकभाव भाव द्रष्टिगोचर नहीं होता, इसलिये उसको ज्ञायकभाव ढँक गया है। चौरासी लाख योनियोंकी एक-एक योनिमें अनन्तबार उत्पन्न हुआ है; क्योंकि उसने रागको अपना माना है। स्व-परप्रकाशक ज्ञायक आत्मा और विकल्पकी क्रिया इन दो को भिन्न नहीं करनेवालोंको

एक ज्ञायकभाव तिरोभूत हो गया है, इसलिये चौरासी लाख योनियोंमें भटकता है। ।।५२।।

अहा! जिसने द्रव्यस्वभावका अवलम्बन लेकर अंतरमें सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं किया उसे देहान्तके समय कौन शरण होगा? अरे! जब रग-रग खिंचेगी, पीडा होगी, प्रत्येक रजकण पलट जायेगा, उस समय ज्ञायक भगवान आत्मा जो कि शरणभूत है, उसकी द्रष्टि नहीं होगी तो वह जायेगा कहाँ ? वह दुःखमें दब जायेगा, भाई! वहाँ अपने आत्मा के सिवा अन्य कोई शरण नहीं है। ।।५३।।

भाई! चौरासीके चक्करमें परिभ्रमण करते-करते बडे भाग्यसे यह मनुष्यपर्याय प्राप्त हुई है; परन्तु बाईस-तेईस घन्टे तो खाने-पीने-कमानेमें तथा स्त्री-बच्चोंको संतुष्ट करनेमें, मात्र पापमें चले जाते हैं और मुश्किलसे एकाध घन्टा कुछ पढने-सुननेमे जाता है। शेष पूरा दिन पाप...पाप... और पापके धंधोंमें बीत जाता है। ``एरनकी चोरी और सुईका दान'' जैसी स्थिति है। वह तो अंतरसे चौरासीके अवतारोंसे भयभीत हो तो अंतरमें विश्रामका स्थान ढूँढे। ।।५४।।

शरीरके एक-एक अंगुलमें छियानवे-छियानवे रोग हैं, वह शरीर क्षणभंगुर है, न जाने कब छूट जायेगा! किंचित् सुविधा लगे वहाँ घुस जाता है, परन्तु भाई! तुझे जाना कहाँ है? किसका मेहमान होगा? कौन तेरा परिचित है वहाँ ? उसका विचार करके अपना कुछ कर ले! शास्त्रमें लिखा है कि जब तक वृद्धावस्था न आये, शरीरको जब तक व्याधियाँ

घेर न लें और इन्द्रियाँ शिथिल न हो जायें तब तक अपना आत्महित कर लेना। ।।५५।।

ज्ञानकी निर्मल किरणके बिना महाव्रतोंका पालन करें, ब्रह्मचर्य पाले, अरे! आजीवन स्त्रीका संग न करे तथापि उससे आत्माकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये यदि तू दुःखसे छूटना चाहता हो तो पुण्य-पापकी रुचि छोडकर आत्मज्ञान कर। आत्मा आनन्दका नाथ है उसका ज्ञान कर। उसके बिना अरेरे! कीडा-कौआ-कुत्तेका भव कर-करके मर गया! अनन्तकाल यों हीं दुःखमें बीत गया! प्रभु! तूने इतने दुःख सहे हैं कि जिनकी कोई मर्यादा नहीं रही... लेकिन तू वे सब भूल गया है। भाई! प्याजको जब तेलमें तला, तब तू भी कड़कड़ाट तला गया था-तू उस प्याजमें बैठा था। ऐसे-ऐसे तो अपार दुःख तूने भोगे हैं। चौरासी लाख योनियोंके दुःखमें पिलता रहा है। आनन्दके नाथको पुण्य-पापकी घानीमें पेल दिया है। अब यदि उन दुःखोंसे छूटना चाहता हो, सिद्धसुखके झूलेमें झूलनेकी इच्छा हो तो आत्मज्ञान करके निजपदको प्राप्त कर।

।।५६।।

लक्ष्मणजीकी मृत्यु होनेपर धर्मात्मा रामचंद्रजी भाईके मोहवश अस्थिरताके मोहवश छह महिने तक मृतशरीरको साथ रखते थे, उसे भोजन कराते, सुलाते, नहलाते आदि क्रियाएँ कराते थे। अज्ञानी भी न करे ऐसे कार्य धर्मात्मा मोहके वश करते दिखाई देते हैं, तथापि अंतरमें ज्ञाता-द्रष्टाका प्रवाह चल ही रहा है। बाहरकी उन्मत्त चेष्टाके समय भी उस चेष्टाके

तथा उस समयके मोहके ज्ञातारूपसे रामचन्द्रजी वर्तते हैं।

।।५७।।

लक्ष्मी मिलना वह पुण्यका फल है, उसमें आत्माको क्या? पैसेकी समृद्धिसे अपनेको बडा माननेवाला भिखारी है, रंक है। एक बार एक राजा व्याख्यान सुनने आये थे। तब कहा था कि राजन्! अधिक माँगे वह बड़ा भिखारी और थोड़ा माँगे वह छोटा भिखारी! व्यापारी लाखोंकी तृष्णा करता है इसलिये वह भिखारी और राजा करोड़ों-अरबोंकी तृष्णा करता है इसलिये वह बड़ा भिखारी.... सामान्यरुपसे तो सब भिखारी और रंक ही हैं। जिन्हें अपनी चैतन्यलक्ष्मीकी खबर नहीं है और जड लक्ष्मीकी - पैसा दो, प्रतिष्ठा दो, स्त्री दो, - ऐसी भीख माँगते हैं उन्हें शास्त्रमें `वराका:' कहा है! भाई! यह बाहरी लक्ष्मी तो धूल है; भीतर भगवान आत्मामें ज्ञानानन्दमय चैतन्यलक्ष्मी भरी पड़ी है उसका तुझे मूल्य नहीं है। तेरी चैतन्यसंपदाका क्या कहना। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य - ऐसी अनन्तानन्त गुणलक्ष्मी तेरे चैतन्यभण्डारमें भरी पड़ी है। भगवान ज्ञायक आत्मा है तो शरीरप्रमाण इतने क्षेत्रमें, परन्तु उसके गुणोंकी संख्यामें इतनी अनन्तता है कि अनन्तका अनन्त द्वारा अनन्त-अनन्त-अनन्त बार गुणाकार करो, तथापि कभी उन गुणोंकी अनन्तताको नहीं पहुँचा जा सकता। अरे प्रभु! आत्मा क्या वस्तु है! आत्मामें ज्ञान, आनन्दादिकी अनन्त-अनन्त लक्ष्मी भरी पड़ी है उसकी तुझे खबर नहीं है। **।।५८।।**

अहा! ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव मिला, जैनकुलमें जन्म हुआ, वीतरागकी वाणी सुननेको मिली; प्रभु! अब तो आत्महितके लिए कुछ करना पड़ेगा न ? ऐसे तो जन्म-मरणके चक्करमें अनन्तबार एक श्वासमें अठारह भव किये। विचार कर तो खबर पड़ेगी। छहढालामें कहा है कि-`एक श्वासमें आठदसबार, जन्म्यो-मर्यो भर्यो दु:खभार;' प्रभु! वह सब तू भूल गया है। भूल गया, इसलिये वह नहीं है-ऐसा कैसे कह सकते हैं ? अरे! इस मनुष्यभवमें आनेपर प्रथम छह महिने तक तेरी माताने तुझे दूध पिलाया, नहलाया - यह सब तुझे याद है? याद नहीं है इसलिये वह नहीं था - ऐसा कैसे कहेगा ? बचपनमें तूने किस प्रकार खाया-पिया, कैसे रोया - यह सब याद है तुझे ? नहीं है इसलिये वह नहीं था ऐसा - कौन कहेगा? इसप्रकार पूर्वभवका स्मरण नहीं है इसलिये पूर्वमें जो दु:ख सहें है वे नहीं थे - ऐसा कैसे कहा जाये ? समझमें कुछ आता है ? यह सब लोजिक - न्यायसे समझना पड़ेगा भाई!

।।५९।।

....`तथा विषयसुखादिका फल नरकादि हैं', विषयसुखका सेवन करेंगे तो नरकमें जायेंगे - ऐसा अज्ञानीको डर लगता है, परन्तु विषयसेवनका भाव ही दु:खरुप है और आत्मा आनन्दरुप है - ऐसी द्रष्टि तो करता नहीं है। `शरीर अशुचिमय तथा विनाशीक है, पोषण करने योग्य नहीं है' - ऐसा माननेवाले भी मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि वह तो द्वेष हुआ। परद्रव्यको क्या है ? सम्यग्दृष्टि तो वह पोषण करने योग्य है या नहीं, उसकी

दृष्टि छोडकर, आत्मा आनन्दकन्द है उसकी दृष्टि करता है। 'तथा कुटुम्बादिक स्वार्थके सगे हैं', इसलिये छोड़ना - ऐसा माननेवाला परद्रव्यको अहितकारी मानता है, जो मिथ्यात्व है। भाई। तू स्वयं अज्ञानके कारण लुटता है तब उन्हें लुटेरा कहा जाता है। और वह परवस्तु तो कहाँ तुझे हानि पहुँचाती है ? किन्तु परद्रव्यमें अनिष्टकी मान्यता ही हानिकारक - मिथ्यात्व है। इसप्रकार अज्ञानी परद्रव्योंका दोष विचारकर उनका त्याग करता है, किन्तु वह तो मिथ्या है; क्योंकि दोष अपना है या परका ? परमें इष्ट-अनिष्टपना मानना वह अपना दोष है। ।।६०।।

नरकके दुःख सुने जायें ऐसे नहीं है। पाँवमें काँटा लगने जितना दुःख तुझसे सहन नहीं होता तो फिर जिसके गर्भमें अनन्त दुःख पड़े हैं, उस मिथ्यात्वको छोडनेका प्रयत्न तू क्यों नहीं करता ? तू शरीरको स्पर्शता नहीं है फिर भी तूने माना है कि शरीर मेरा है; यह तूने क्या किया ? क्या माना! - विपरीत मान्यताके स्थूल असंख्य प्रकार तथा सूक्ष्म अनंत प्रकार हैं। परको मार सकता हूँ, या जिला सकता हूँ, वह मिथ्यात्वका एकभाग है। अनंत परवस्तुओंको अपना माना भाई! परन्तु अपने अतिरिक्त अन्य वस्तुओंको तू स्पर्शता भी नहीं है। सत्य बोल सकता हूँ - ऐसा माना परन्तु वह तो मिथ्यात्वका एक भाग है। मिथ्यात्वभावको छोडनेका प्रयत्न क्यों नहीं करता ? प्रमादमें क्यों पड़ा है ? ।।६१।।

नववें ग्रैवेयकमें जानेवाले द्रव्यलिंगीको भी अनादिके

ऐसे-ऐसे सूक्ष्म शल्य रह गये हैं कि उनका उसे पता ही नहीं चला। कहीं कहीं निमित्तमें, रागमें, संयोगमें अधिकता देकर आत्माका अनादर ही उसने किया है। ।।६२।।

भाई ! सम्यग्दृष्टिके अंतस्तलकी थाह लेना बहुत कठिन है। धर्मी जीवको चक्रवर्तीका राज्य हो, युद्धमें खडे हों, परन्तु आत्माके आनन्दसे राग भिन्न हो गया है, रागादि परिग्रहमें भेदबुद्धि हो गई है; भले ही उसके विषयसामग्री हो, उसका भोग भी करते हों, सम्यग्दृष्टिको पुण्य विशेष होता है, पुण्यके ढेर होते हैं, स्त्री-पुत्रादिमें, शरीर वैभवमें पुण्यके ढेर दिखाई देते हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टिको उनमें एकत्वबुद्धि छूट गई है; चैतन्यका अतीन्द्रिय आनन्द उसे दृष्टिगोचर होता है। आनन्दका सागर उछल रहा है, आनन्दका ज्वार आता है - ऐसे सम्यग्दृष्टिको भोग-सामग्रीमें किंचित् आसक्ति दिखती है - होती है, तथापि अभिप्राय में उसका स्वीकार नहीं है, सुखबुद्धि नहीं है। भोग भुजँग समान लगते हैं, काले नाग दिखते हैं। ।।६०।।

इकलौता जवान पुत्र मर जाये तो कैसा आघात लग जाता है। ऐसे ही उसे आघात लगना चाहिए। राग और संयोगकी ओटमें तू स्वयं मरा जा रहा हैं, उसका तुझे कोई आघात लगता है ? ।।६१।।

जिसप्रकार हलवाईके यहाँ कढ़ाईमें उबलते हुए तेलमें उपरसे गिरा हुआ सर्प आधा तो जल गया, परन्तु उस जलनके कष्टसे बचनेके लिये वह चूल्हे में घुस जानेपर पूरा जल

गया!.... उसीप्रकार संसारके जीव पुण्य-पापमें तो जल ही रहे हैं और उसमें वे विशेष सुखकी लालसामें विशेष जलते हैं, ऐसे विषयोंमें झंझापात करके सुख मानते हैं। ।।६२।।

छह खण्डका स्वामी चक्रवर्ती विचारता है कि अहो! आनन्दका कारण मैं एक स्वयं हूँ और यह सब दुःखके निमित्त हैं..... ऐसा वैराग्य होनेपर... सिर धुनती हुई रानियोंसे कहते हैं कि अरे! अब तुम सबकी ओरका राग जल गया है, हमारे आनन्दका कारण हमारे पास है, उस आनन्दको प्रगट करनेके लिये हम जा रहे हैं। हम आनन्दके भ्रमर हैं और आनन्दका पराग लेने भीतर अंतरमें उतर रहे हैं। हमारे आनन्दकी ऊर्मियाँ अंतरसे उमड़ रही हैं। अंतरमें कुछ देखा होगा न!-कि जिसके समक्ष यह सब सड़े हुए तृणसमान भासित होता है।

।।६३।।

जीवको अटकनेके अनेक प्रकार हैं। अटकना क्या है वह विचारके बिना नहीं बैठेगा। कहाँ भूल है और क्या में मानता हूँ ? अतीन्द्रिय आनन्दके बिना जो कुछ बाह्य क्रिया है उसमें अटकता है। मैं व्रत पालता हूँ, बह्मचर्य पालता हूँ, विशेष जानपना है-इत्यादि असंख्यात प्रकारके अटकनेके कारण है। प्रभु! अनन्तकालमें मनुष्यपना प्राप्त करना कठिन है; तुझे वह मनुष्यपना प्राप्त हुआ तो प्रभु! दुनियाकी बात छोड़ दे। मैं कुछ हूँ ऐसी दृष्टि छोड़ दे। सर्वत्रसे विमुख हो। मात्र चैतन्य-दरबारमें अनंत अनंत शान्ति भरी पड़ी है उसका वेदन कर। दूसरा सब छोड़कर आनन्दकन्द प्रभुके दरबारमें जा।

।।६४।।

भगवान आनन्दका नाथ चैतन्यचक्रवर्ती है। किन्तु अपनेको भूल गया है और भिखारी हुआ परके पास भीख माँगता है। पैसा लाओ। स्त्री लाओ। प्रतिष्ठा लाओ। निरोगता लाओ! - इसप्रकार भिखमंगा होकर माँगता रहता है, परन्तु अपनेमें ही आनन्द भरा है, उसके समक्ष दृष्टि नहीं करता, इसलिये चार गतियोंमें भटकता हुआ दुःख भोगता है। शुभराग तथा अशुभरागकी वासना - वह विषकी वासना है। जहाँ आनन्दका नाथ है वहाँ दृष्टि नहीं करता और जहाँ आनन्द नहीं है, वहाँ व्यर्थ प्रयत्न करता है। ।।६५।।

वर्तमानमे किंचित् प्रतिकूलता आये तो वह उससे सहन नहीं होती, किन्तु भविष्यमें अनन्त प्रतिकूलताएँ आयेंगी उनकी परवाह नहीं है। ।।६६।।

अज्ञानीकी भूल हो तो उसे जान लेना, परन्तु उसका तिरस्कार नहीं करना। वह भी भगवान आत्मा है न! वे बेचारे अज्ञानसे दुःखी हैं; जो दुःखमें झूल रहे हों उनका तिरस्कार करना धर्मीका काम नहीं है। ।।६७।।

श्री समयसारमें कहा है कि मैं पर जीवको सुखी-दुःखी कर सकता हूँ, यह मान्यता महा मिथ्यात्व है। सब अपने पूर्व कर्मोके उदय अनुसार आयु एवं संयोग लेकर आते हैं; उनमें अन्य कोई जीव फेरफार नहीं कर सकता। बृहद् सामायिक पाठमें आता है कि जब मरण आता है तब वैद्य, बाह्मण, स्त्री, पुत्र, माता, नौकर-चाकर या इन्द्रादि कोई भी बचा नहीं सकता। एक मात्र अपना आत्मा ही शरणभूत है

- ऐसा विचार करके सज्जनोंको आत्मिक कार्य करनेमें विलम्ब नहीं करना चाहिए। ऐसा मनुष्य शरीर, पाँच इन्द्रियाँ और जैन धर्म मिलने पर भी आत्महितके कार्यमें विलम्ब नहीं करना। आज ही करना। अमृतचन्द्र आचार्यदेवश्री प्रवचनसारमें कहते हैं कि आज ही अपना हित साध ले, विलम्ब न कर!

।।६८।।

पैसा रहना या नहीं रहना वह अपने हाथ की बात नहीं है। जब पुण्य पलटता है तब दुकान जल जाती है, बीमा कम्पनी टूट जाती है, पुत्री विधवा हो जाती है, गड़ा हुआ धन कोयला हो जाता है आदि सब सुविधाएँ एकसाथ पलट जाती हैं। कोई कहे कि ऐसा तो कभी-कभी होता है न ? अरे ! पुण्य पलटे तो सर्व प्रसंग पलटने में देर नहीं लगती। परद्रव्य को कैसे रहना वह तेरे हाथ की बात ही नहीं है न। इसलिये सदा स्थायी सुखनिधान निज आत्मा की पहिचान करके उसमें स्थिर हो जा। **।।६९।।**

प्रातःकाल जिसे राजसिंहासन पर देखा हो वही सायंकाल श्मशान में राख होता दिखाई देता है। ऐसे प्रसंग तो संसार में अनेक बनते हैं, तथापि मोहविमूढ़ जीवों को वैराग्य नहीं आता। भाई ! संसार को अनित्य जानकर तू आत्मोन्मुख हो। एक बार अपने आत्मा की ओर देख। बाह्य भाव अनंत काल करने पर भी शान्ति नहीं मिली, इसलिये अब तो अंतर्मुख हो। यह संसार या संसार के संयोग स्वप्न में भी इच्छनीय नहीं है। अन्तर का एक चिदानन्द तत्व ही

भावना करने योग्य है। **।।७०।।**

प्रश्न :- आप कहते हैं कि अकस्मात कुछ भी नहीं होता, अतः ज्ञानी निःशंक और निर्भय है, पर पेपर में तो अकस्मात दुर्घटना के बहुत समाचार आते हैं ?

उत्तर :- जगत् में अकस्मात कुछ होता ही नहीं। जिस द्रव्य की जो पर्याय जिस काल में होना हो, वही होती है। देह छूटने का काल जिस क्षेत्र और जिस निमित्त से हो, उसीप्रकार देह छूटती है। उल्टा-सीधा या अकस्मात किसी पदार्थ का परिणमन नहीं होता, व्यवस्थित ही होता है।

।।७१।।

एक बार परद्रव्यों के लिए तो मर जाना चाहिए कि पर में मेरा कोई अधिकार ही नहीं है। अरे भाई ! तू राग को और रजकणों की पर्याय को नहीं कर सकता - ऐसा ज्ञाता-दृष्टा पदार्थ है। ऐसे ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की दृष्टिकर, चारों तरफ से उपयोग को समेट कर एक आत्मा में ही जा।

।।७२।।

इस शरीर का स्वभाव तो देखो ! निरोग शरीर क्षणभर में रोगरूप परिणमित हो जाता है। शरीर के रजकण जिस समय जैसे होने वाले हैं, वैसे ही होते हैं इसमें फेरफार कौन कर सकता है ? शरीर के परमाणु कैसे रहें, इससे तुझे क्या काम है ? तुझे कैसा रहना है उसकी सम्हाल कर। **।।७३।।**

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

४

देव-शास्त्र-गुरु

हे जिनेन्द्र ! आपकी भक्ति से मैं पवित्रता तो पूर्ण प्राप्त करुँगा ही, परन्तु पुण्य में भी पूर्णताकी प्राप्ति होगी। मैं तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि पद प्राप्त करके अपनी पूर्णता साधूँगा। ।।१।।

पंचपरमेष्ठी के प्रेम की अपेक्षा इस शरीर के प्रति प्रेम बढ़ जाये तो वह अनन्तानुबंधी लोभ है। ।।२।।

समवसरण (जिनमंदिर), जिनबिंबादि - वीतरागताका स्मरण करनेके निमित्त हैं। अहा ! ऐसे जीव हैं, उनके ऐसे पुण्य हैं -यह सब देखने पर वर्तमानबुद्धि छूटकर त्रिकाली की बुद्धि होती है और उसके लिये यह समवसरण जिनमंदिरादि निमित्त हैं। ।।३।।

जिनप्रतिमा कैसी होती है ? अक्रियबिंब, परम प्रसन्नतासे

दीप्त, शान्त, वीतरागमूर्ति, निर्लेप, निर्विकार मुद्रा होती है। आत्माका वास्तविक मूल, शान्त, निष्क्रिय स्वरूप देखने हेतु वह आदर्शभूत है। जिसने वीतरागताके स्वरुपको ध्यानका कारण समझा है, उसके लिए वह पूर्णस्वरूपके स्मरणका कारण है। ।।४।।

प्रश्न :- भगवान की मूर्ति तो जड़ है, फिर उसकी पूजा का उपदेश क्यों दिया जाता है ?

उत्तर :- अरे भाई ! अभी तू जड़-चेतन को समझ ही कहाँ पाया है ? तेरे स्त्री-पुत्रादि भी तो जड़ ही है, फिर उनसे राग क्यों करता है ? आत्मा स्त्री-पुत्रादिरूप नहीं है, तू उनके आत्मा को तो जानता नहीं, केवल शरीर में ही तू स्त्री-पुत्रादिपना मान बैठा है। यह शरीर तो जड़ है, फिर भी तू उससे राग कर के पाप बाँधता है और जहाँ देव की बात आती है, वहाँ तू कहता है कि मूर्ति तो जड़ है, तब कहना होगा कि तुझे देव-गुरु की पहिचान ही नहीं है। (भगवान के भक्त को प्रथम भूमिका में देव-गुरु की पहिचान ही नहीं है।) भगवान के भक्त को प्रथम भूमिका में देव-शास्त्र-गुरु के प्रति शुभराग आए बिना नहीं रहता।।।५।।

प्रश्न :- सच्चे देव को देखे बिना उनका निश्चय कैसे किया जाए ?

उत्तर :- जैसे कोई आदमी किसी बन्द मकान में वीणा बजा रहा हो तो यद्यपि वह आँखो से दिखाई नहीं देता, किन्तु बाहर का आदमी उसकी वीणा बजाने की कला, पद्धति

और स्वर इत्यादि से उस पुरुष को देखे बिना ही उसकी कला का निर्णय कर लेता है, उसी प्रकार शरीररूपी मकान में वाणीरूपी वीणा द्वारा भीतर स्थित आत्मा के सर्वज्ञ पद का निर्णय हो सकता है।

ज्ञान की वृद्धि और राग-द्वेष की हीनता के आधार पर भी सर्वज्ञता का निर्णय हो सकता है। एक आत्मा से दूसरे आत्मा में अधिक ज्ञान होता है और तीसरे आत्मा में उससे अधिक ज्ञान होता है-इस प्रकार उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि होते-होते किसी जीव के परिपूर्ण ज्ञान प्रकट होता है, वही सर्वज्ञ है। इसी प्रकार एक जीव के जितना राग-द्वेष होता है, दूसरे जीव को उससे भी थोड़ा होता है तथा तीसरे के उससे भी कम होते हैं-इस प्रकार कम करते-करते अन्त में किसी जीव के राग-द्वेष का सर्वथा अभाव भी होता है। उसको परिपूर्ण ज्ञान होता है और वह सर्वज्ञ कहलाता है।

इस प्रकार अपने ज्ञान में सर्वज्ञ के स्वरूप का निश्चय करके जो उन्हें देव के रूप में पूजता है, उनकी श्रद्धा करता है, वह अपनी भक्ति से भगवान को अपने आँगन में ले आता है अर्थात् वह स्वयं सत् के आँगन में पहुँच जाता है।

।।६।।

प्रश्न :- सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानने से तो सम्यग्दर्शन तो हो जाएगा न ?

उत्तर :- जब सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहिचान कर उनके लिए तन-मन-धन अर्पण करने की भावना आ जाए और कुगुरु-

कुदेवादि में प्रवृत्ति न हो, तब गृहीत मिथ्यात्व छूटता है और जब उसे आत्मा की ऐसी श्रद्धा हो जाए कि देव-गुरु के प्रति होनेवाले राग भी पुण्यबन्ध का कारण है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। तब अगृहीत मिथ्यात्व भी छूट जाता है। अनादि के अगृहीत मिथ्यात्व के छूटने पर ही जिनेन्द्र भगवान का सच्चा भक्त होता है, सच्चा जैनपना प्रगट होता है।

।।७।।

अरे! तू ज्ञान की प्रतीति के बिना धर्म कहाँ करेगा? राग में खड़ा रहकर सर्वज्ञकी प्रतीति नहीं होती। राग से जुदा पड़कर, ज्ञानरूप होकर सर्वज्ञ की प्रतीति होती है। इसप्रकार ज्ञानस्वभाव के लक्ष्यपूर्वक सर्वज्ञ की पहिचान करके, उसके अनुसार धर्म की प्रवृत्ति होती है। सम्यक्त्वी ज्ञानी के जो वचन हैं, वे भी सर्वज्ञ अनुसार हैं, क्योंकि उसके हृदय में सर्वज्ञदेव विराजमान है। **जिसके हृदय में सर्वज्ञ न हों, उसके धर्मवचन सच्चे नहीं होते।** **।।८।।**

अरे! जहाँ ज्ञानस्वभाव का आदर किया और जिस ज्ञान में सर्वज्ञ की स्थापना की, उस ज्ञान में अब भव कैसा? ज्ञान में भव नहीं, भव का संदेह नहीं। अरे जीव! एक बार तो सर्वज्ञ को पहिचानकर उनके गीत गा। इस पृथ्वीतल का मृग भी जिन भगवान के गीत सुनने के लिए ठेठ चन्द्रलोक में गया, तो यहाँ संत सर्वज्ञता की महिमा का गुणगान सुनायें और उसको सुनते हुए मुमुक्षु को भक्ति का उल्लास न आये - ऐसा कैसे बने ? ऐसे में सर्वज्ञ की पहिचान - यह श्रावक

का पहला लक्षण है और धर्म का मूल है। जो सर्वज्ञ को नहीं पहिचानता, जिसे उनके वचनों में भ्रम है और जो विपरीत मार्ग को मानता है; उसे तो श्रावकपना नहीं होता और शुभभाव का भी ठिकाना नहीं है। मिथ्यात्व की तीव्रता के कारण उसे महापापी अथवा अपात्र कहा है; इसलिये मुमुक्षु को सर्वप्रथम सर्वज्ञदेव की पहिचान करनी चाहिए। ।।९।।

जो सम्यग्दर्शन का उद्यम नहीं करता और पुण्य को मोक्ष का साधन समझकर उसकी रुचि में अटक जाता है, उससे कहते हैं कि अरे मूढ़! 'तुझे भगवान की भक्ति करनी नहीं आती, भगवान तेरी भक्ति को स्वीकार नहीं करते; क्योंकि तेरे ज्ञान में तूने भगवान को स्वीकार नहीं किया।' अपने सर्वज्ञस्वभाव को जिसने पहचाना, उसने भगवान को स्वीकार किया और भगवान ने उसे मोक्षमार्ग में स्वीकार किया, वह भगवान का सच्चा भक्त हुआ। दुनिया चाहे उसे न माने या पागल कहे; परन्तु भगवान ने और सन्तों ने उसे मोक्षमार्ग में स्वीकार किया है, भगवान के घर में वह प्रथम है।

।।१०।।

जिनमंदिर बनवाना, उसमें जिनप्रतिमा स्थापित करवाना, उनकी पंचकल्याणक पूजा-अभिषेक आदि उत्सव करना - ऐसे कार्यो का उल्लास श्रावक को आता है - ऐसी उसकी भूमिका है; इसलिए उसे श्रावक का कर्तव्य कहा है। यदि उसका निषेध करे तो मिथ्यात्व है और मात्र इतने शुभराग को ही धर्म समझे तो उसको भी सच्चा श्रावकपना नहीं होता - ऐसा

जानो। ।।११।।

नियमसार टीका में श्री पद्मप्रभमलधारि मुनिराज कहते है कि जिसे भवभय रहित ऐसे भगवान के प्रति भक्ति नहीं, वह जीव भवसमुद्र के बीच मगर के मुँह में पड़ा हुआ है। जिस प्रकार संसार के रागी प्राणी को युवा स्त्री का विरह खटकता है और उसके समाचार मिलते प्रसन्न होता है, उसी प्रकार धर्म के प्रेमी जीव को सर्वज्ञ परमात्मा का विरह खटकता है और उनकी प्रतिमा का दर्शन करते या संतों द्वारा उनका सन्देश सुनते (शास्त्र का श्रवण करते) उसे परमात्मा के प्रति भक्ति का उल्लास आता है। अहो मेरे नाथ! तन से, मन से, धन से - सर्वस्वरूप से आपके लिए क्या क्या करूँ ?।

।।१२।।

पद्मनन्दी स्वामी ने श्रावक के छह कर्तव्य बताये हैं। वे 'उपासक संस्कार' में कहते हैं कि जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान को भक्ति से नहीं देखता तथा उनकी पूजा-स्तुति नहीं करता, उसका जीवन निष्फल है और उसके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है। मुनि इससे ज्यादा क्या कहें ? इसलिए भव्यजीवों को प्रातः उठकर सर्वप्रथम देव-गुरु के दर्शन भक्ति से वन्दन और शास्त्रश्रवण कर्तव्य है, अन्य कार्य पीछे करना चाहिये।

।।१३।।

इसप्रकार देवपूजा, गुरुसेवा और शास्त्रस्वाध्याय - ये श्रावक के हमेशा के कर्तव्य हैं। जिस घर में देव - गुरु - शास्त्र की उपासना नहीं होती; वह तो घर नहीं, जेलखाना

है। जिसप्रकार भक्तिवान् पुत्र को अपनी माता के प्रति कैसा आदरभाव और भक्ति आती है। अहो मेरी माता! तेरे उपकार अपार हैं, तेरे लिये क्या-क्या करूँ ? उसी प्रकार धर्मात्मा श्रावक को तथा जिज्ञासु जीव को भगवान के प्रति, गुरु के प्रति और जिनवाणी माता के प्रति हृदय से प्रशस्त भक्ति का उद्रेक आता है; अहो मेरे स्वामी! आपके लिये मैं क्या - क्या करूँ, किस प्रकार आपकी सेवा करूँ ? - ऐसा भाव भक्त को आये बिना नहीं रहता, तो भी उसकी जितनी सीमा है, उतनी वह जानता है। केवल वह उस राग में धर्म मानकर नहीं रुक जाता। धर्म तो अन्तर के भूतार्थस्वभाव के अवलम्बन से है - उसने स्वभाव को प्रतीति में लिया है। ऐसे सम्यग्दर्शन सहित मुनिधर्म को न पाल सके तो श्रावकधर्म का पालन करे, उसका यहाँ वर्णन है। ।।१४।।

भाई! पराश्रयभाव तो पाप और पुण्य दोनों हैं, परन्तु धर्म-जिज्ञासु का पाप की तरफ का लगाव छूटकर धर्म के निमित्तरूप देव - गुरु - धर्म की तरफ का लगाव होता है। जो जीव इसका विवेक नहीं करे और स्वच्छंद पाप में प्रवर्ते या कुदेवादि को माने, उसे तो धर्मी होने की पात्रता भी नहीं है। ।।१५।।

मोही जीव को स्त्री, पुत्र, भाई, बहिन आदि के प्रति प्रेमरूप भक्ति आती है; वह तो पापभक्ति है। धर्मीजीव को देव, गुरु, धर्मात्मा के प्रति परमप्रीतिरूप भक्ति उछल पड़ती है; वह पुण्य का कारण है और उसमें वीतराग-

विज्ञानमय धर्म के प्रेम का पोषण होता है। जिसे धर्मी के प्रति भक्ति नहीं, उसे धर्म के प्रति भी भक्ति नहीं; क्योंकि धर्मी के बिना धर्म नहीं होता। जिसे धर्म का प्रेम हो, उसे धर्मात्मा के प्रति उल्लास आए बिना नहीं रहता।

।।१६।।

राग का एक कण भी जिसमें नहीं - ऐसे स्वभाव का श्रवण करने में और उसे समझने की पात्रता में जो जीव आया; उसे स्थूल अनीति का, तीव्र कषायों का, मद्य - माँस - मधु आदि अभक्ष्यों के भक्षण का तथा कुदेव - कुगुरु - कुमार्ग के सेवन का तो त्याग होता ही है और सच्चे देव - गुरु - शास्त्र का आदर, साधर्मी का प्रेम, परिणामों की कोमलता, विषयों की मिठास का त्याग, वैराग्य का रंग - ऐसी योग्यता होती है। ऐसी पात्रता बिना ही तत्वज्ञान हो जाय - ऐसा नहीं है। ।।१७।।

सामनेवाला जीव धर्म की आराधना कर रहा हो तो उसे देखकर धर्मी को उसके प्रति प्रमोद, बहुमान और भक्ति का भाव उल्लसित होता है; क्योंकि स्वयं को उस आराधना का तीव्र प्रेम है अर्थात् उसके प्रति भक्ति से (मैं उस पर उपकार करता हूँ- ऐसी बुद्धि से नहीं, परन्तु आदरपूर्वक) शास्त्रदान, आहारदान आदि के भाव आते हैं। इस बहाने वह स्वयं अपने राग को घटाता है और आराधना की भावना को पुष्ट करता है। ।।१८।।

धन का सच्चा - उत्तम उपयोग क्या ? - इसका

विचार कर। स्त्री-पुत्र के लिए अथवा विषयभोगों के लिए तू जितना धन खर्च करेगा, उसमें तो तुझे उल्टा पापबन्ध होगा; इसलिए लक्ष्मी की सच्ची गति यह है कि राग घटाकर देव - गुरु - धर्म की प्रभावना, पूजा-भक्ति, शास्त्रप्रचार, दान आदि उत्तम कार्यों में उसका उपयोग करना। ।।१९।।

जो मात्र लक्ष्मी की लोलुपता के पापभाव में जीवन बीता दे और आत्मा की कोई जिज्ञासा न करे - ऐसा जीवन धर्मी का अथवा जिज्ञासु का नहीं होता। अहो! जिसे सर्वज्ञ की महिमा आयी है, जो अन्तर्दृष्टिसे आत्मा के स्वभाव को साधते हैं, महिमापूर्वक वीतरागमार्ग में आगे बढ़ते हैं और जिसे तीव्र राग घटने से श्रावकपना प्रगट हुआ है - ऐसे श्रावक के भाव कैसे हों, उसकी यह बात है। ।।२०।।

भाई! अनेक प्रकार के पाप करके तूने धन इकट्ठा किया तो अब परिणामों को पलटकर उसका ऐसा उपयोग कर कि जिससे तेरे पाप धुलें और तुझे उत्तम पुण्य बँधे। इसका उपयोग तो धर्म के बहुमानपूर्वक सत्पात्र दान करना ही है। ।।२१।।

भ्रमर के गुँजार से और चन्द्रमा के उदय से कमल की कली तो खिल उठती हैं, पत्थर नहीं खिलता है; उसी प्रकार इस उपदेशरूपी गुँजार को सुनकर धर्म की रुचिवाले जीव का हृदय तो खिल उठता है कि वाह! देव - गुरु - धर्म की सेवा का अवसर आया। मेरा भाग्य है जो मुझे देव - गुरु का काम मिला। इसप्रकार उल्लसित होता है। ।।२२।।

देव - गुरु - धर्म का उत्साह, सत्पात्र दान, तीर्थयात्रा आदि में राग घटाकर लक्ष्मी का उपयोग करेगा तो तुझे भी अन्तरंग में ऐसा संतोष होगा कि आत्मा के हित के लिए मैंने कुछ किया है; अन्यथा मात्र पाप में ही जीवन बिताया तो तेरी लक्ष्मी भी निष्फल जायेगी और मरण समय तू पछतावेगा कि अरे! जीवन में आत्महित के लिए कुछ नहीं किया और अशान्तरूप से देह छोड़कर कौन जाने कहाँ जाकर पैदा होगा? इसलिए हे भाई! छठवें से सातवें गुणस्थान में झूलते मुनिराज ने करुणा करके तेरे हित के लिए इस श्रावकधर्म का उपदेश दिया है। ।।२३।।

तेरे पास चाहे जितना धन का समूह हो; परन्तु उसमें से तेरा कितना ? तू दान में खर्च करे, उतना तेरा। राग घटाकर दानादि सत्कार्य में खर्च हो, उतना ही धन सफल है। बारम्बार सत्पात्र दान के प्रसंग से, मुनिवरों धर्मात्माओं आदि के प्रति बहुमान, विनय, भक्ति से तुझे धर्म के संस्कार बने रहेंगे और ये संस्कार परभव में भी साथ चलेंगे, लक्ष्मी कोई परभव में साथ नहीं चलती। इसलिए कहते हैं कि **संसार के कार्यो में (विवाह, भोगोपभोग आदि में) तू लोभ करता हो तो भले कर; परन्तु धर्मकार्यो में तू लोभ मत कर, वहाँ तो उत्साहपूर्वक वर्तन करना।** ।।२४।।

प्रद्युम्नकुमारने पूर्वभव में औषधिदान किया था, उससे उसे कामदेव जैसा रूप तथा अनेक ऋद्धियाँ मिली थीं। लक्ष्मण की पटरानी विशल्यादेवी ने पूर्वभव में एक अजगर को करुणाभाव

से अभयदान किया, उससे उसे ऐसी ऋद्धि मिली थी कि उसके स्नान के पानी से लक्ष्मण आदि की मूर्च्छा उतर गई। वज्रजंघ और श्रीमती की बात भी प्रसिद्ध है; वे आहारदान से भोगभूमि में उत्पन्न हुए और वहाँ मुनिराज के उपदेश से उन्होंने सम्यग्दर्शन पाया था; उनके आहारदान में अनुमोदन करनेवाले चारों जीव (सिंह, बन्दर, नेवला और सुअर) भी भोगभूमि में उनके साथ ही जन्मे और सम्यग्दर्शन प्राप्त किया। यद्यपि सम्यग्दर्शन कोई पूर्व के शुभराग का कुछ फल नहीं है; परन्तु सम्यग्दर्शन हुआ; इसलिए पूर्व के राग को परम्पराकारण भी कहने में आता है - ऐसी उपचार की पद्धति है। देव - गुरु - धर्म के प्रसंग में बारम्बार दान करने से तेरे धर्म के संस्कार ताजे रहा करेंगे ओर धर्म की रुचि का बारम्बार चिन्तन होने से तुझे आगे बढ़ने का कारण बनेगा।

।।२५।।

देखिये, इस जैनधर्म का चरणानुयोग भी कितना अलौकिक है! जैन श्रावक का आचरण किस प्रकार होवे, उसकी यह बात है। राग की मन्दता के आचरण बिना जैन श्रावकपना नहीं बनता। राग के एक अंश का कर्त्तृत्त्व भी जिसकी दृष्टि में रहा नहीं - ऐसे जीव के आचरण में भी राग कितना मंद पड़ जाता है। पहले जैसे ही राग-द्वेष किया करे तो समझना कि उसकी दृष्टि में कोई अपूर्वता नहीं आई, उसकी रुचि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। रुचि और दृष्टि बदलते ही सारी परिणति में अपूर्वता आ जाती है, परिणाम

की उथल-पुथल बंद हो जाती है। **।।२६।।**

इसप्रकार द्रव्यानुयोग के अध्यात्म का और चरणानुयोग के परिणाम का मेल होता है। **दृष्टि सुधरे और परिणाम चाहे जैसे हुआ करें - ऐसा नहीं बनता।** देव - गुरु के प्रति भक्ति, दान वगैरह परिणाम की मन्दता का जिसका ठिकाना नहीं है, उसे तो दृष्टि सुधारने का प्रसंग नहीं है। जिज्ञासु की भूमिका में भी संसार की तरफ के परिणामों की अत्यंत ही मन्दता हो जाती है और धर्म का उत्साह बढ़ जाता है।

।।२७।।

भाई ! प्रातःकाल उठते ही तुझे वीतराग भगवान की याद नहीं आती, धर्मात्मा-संत-मुनि याद नहीं आते और संसार के अखबार, व्यापार-धंधा अथवा स्त्री आदि की याद आती है तो तू ही विचार कि तेरी परिणति किस तरफ जा रही है ? संसार की तरफ या धर्म की तरफ ? आत्मप्रेमी हो, उसका तो जीवन ही मानो देव-गुरुमय हो जाता है।

।।२८।।

अरे भाई! तुझे आत्मा के तो दर्शन करना नहीं आता और आत्मा के स्वरूप को देखने हेतु दर्पण समान ऐसे जिनेन्द्रदेव के दर्शन भी तू नहीं करता तो तू कहाँ जावेगा ? भाई! जिनेन्द्र भगवान के दर्शन-पूजन भी न करे और तू अपने को जैन कहलावे - ये तेरा जैनपना कैसा ? जिस घर में प्रतिदिन भक्तिपूर्वक देव-गुरु के दर्शन-पूजन होते हैं, मुनिवरों आदि धर्मात्माओं को आदरपूर्वक दान दिया जाता है; वह घर

धन्य है, इसके बिना तो घर श्मशानतुल्य है। अरे! वीतरागी सन्त अधिक क्या कहें ? ऐसे धर्म रहित गृहस्थाश्रम को तो हे भाई! समुद्र के गहरेपानी में तिलांजलि दे देना, नहीं तो यह तुझे डुबो देगा। ।।२९।।

धर्मीजीव प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान के दर्शनादि करते हैं। जिस प्रकार संसार का रागी जीव स्त्री-पुत्रादि के मुँह को अथवा चित्र को प्रेम से देखता है, उसी प्रकार धर्म का रागी जीव वीतराग-प्रतिमा का दर्शन भक्तिसहित करता है। राग की इतनी दशा बदलतें भी जिससे नहीं बनती, वह वीतरागमार्ग को किस प्रकार साधेगा ?। ।।३०।।

भगवान के दर्शन की तरह मुनिवरों के प्रति भी परमभक्ति होती है। भरत चक्रवर्ती जैसे भी महान आदरपूर्वक भक्ति से मुनियों को आहारदान देते थे और अपने आँगन में मुनि पधारें, उस समय अपने को धन्य मानते थे। अहा! मोक्षमार्गी मुनि के दर्शन भी दुर्लभ हैं; यह तो धन्य भाग्य और धन्य घड़ी है कि उनके दर्शन मिलें। मुनि के विरहकाल में बड़े धर्मात्माओं के प्रति भी ऐसा बहुमान का भाव आता है कि अहो! धन्य भाग्य कि मेरे आँगन में धर्मात्मा के चरण पड़े। ।।३१।।

अरे! तीर्थंकरों का विरह, महान संत - मुनियों का भी विरह - ऐसे काल में जिनप्रतिमा के दर्शन से भी धर्मीजीव भगवान के स्वरूप को याद करता है। जिसे वीतराग जिनमुद्रा को देखने की उमंग न हो, वह जीव संसार की तीव्र रुचि

को लेकर संसारसागर में डूबनेवाला है। वीतराग का भक्त तो वीतरागदेव का नाम सुनते ही और दर्शन करते ही प्रसन्न हो जाता है। ।।३२।।

पारस पत्थर लोहे को सोना करता है - इसमें क्या ? इस चैतन्य-चिन्तामणि का स्पर्श होते ही आत्मा पामर से परमात्मा बन जाता है - ऐसा चिन्तामणि ज्ञानी के हाथ में आ गया है। वह धर्मात्मा अन्तर में राग घटाकर धर्म की वृद्धि करता है और बाह्य में भी 'धर्म की वृद्धि कैसे हो, देव-गुरु की भावना और महिमा कैसे बढ़े, धर्मात्मा - साधर्मी को धर्मसाधन में अनुकूलता किस प्रकार हो' - ऐसी भावना से वह दानकार्य करता है। जब आवश्यकता हो, तब और जितनी आवश्यकता हो, उतना देने के लिए वह सदैव तैयार रहता है; इसलिए वह वास्तव में चिन्तामणि और कामधेनु है। दाता पारसमणि के समान है, क्योंकि वह उसके सम्पर्क में आनेवाले की दरिद्रता दूर करता है। ।।३३।।

पहिले तो स्थान-स्थान पर ग्रामों में जिनमन्दिर थे, क्योंकि दर्शन बिना तो श्रावक को चले ही नहीं। दर्शन किये बिना खाना तो बासी भोजन समान कहा गया है। जहाँ जिनमन्दिर और जिनधर्म न हो, वह गाँव तो श्मशानतुल्य कहा गया है; अतः जहाँ-जहाँ श्रावक होते हैं, वहाँ-वहाँ जिनमन्दिर होते हैं और मुनि आदि त्यागी धर्मात्मा वहाँ आया करते हैं, अनेक प्रकार के उत्सव होते हैं, धर्मचर्चा होती है और इनके द्वारा पाप का नाश तथा स्वर्ग-मोक्ष का साधन होता है। ।।३४।।

जिनबिम्बदर्शन से निद्धत और निकाचित मिथ्यात्वकर्म के भी सैकड़ों टूकड़े हो जाते हैं - ऐसा उल्लेख सिद्धान्त में है; धर्म की रुचि सहित की यह बात है। ।।३५।।

गृहस्थावस्था में रहनेवाले भाई-बहिन भी जो धर्मात्मा होते हैं, वे सज्जनों द्वारा आदरणीय होते हैं। श्राविका भी जैनधर्म की ऐसी प्रभावना करती हैं, वह श्राविका धर्मात्मा भी जगत के जीवों द्वारा सत्कार करने योग्य है। देखिये न! चेलनारानी ने जैनधर्म की कितनी प्रभावना की? इसप्रकार गृहस्थावस्था में रहनेवाले श्रावक-श्राविका अपनी लक्ष्मी आदि न्यौछावर करके भी धर्म की प्रभावना करते रहते हैं। सन्तों के हृदय में धर्म की प्रभावना के भाव रहते हैं, धर्म की शोभा हेतु धर्मात्मा श्रावक अपना हृदय भी अर्पण कर देते हैं - ऐसी धर्म की तीव्र लगन इनके हृदय में होती है। ।।३६।।

जिसे सर्वज्ञ भगवान की कुछ पहचान हुई है और अन्तर में बहुमान पैदा हुआ है कि अहो ऐसे वीतरागी सर्वज्ञदेव! ऐसे भगवान को मैं अपने अन्तर में स्थापित करूँ और संसार में भी इनकी प्रसिद्धि हो - ऐसे बहुमान से भक्तिभावपूर्वक जिनमन्दिर बनवाने का भाव जिसे आता है, उसे उच्च जाति का लोकोत्तर पुण्य बँधता है; क्योंकि उसके भावों में वीतरागता का बहुमान हुआ है। पश्चात् भले ही प्रतिमा बड़ी हो या छोटी, परन्तु उसकी स्थापना में वीतरागता का बहुमान और वीतराग का आदर है - यही उत्तम पुण्य का कारण है। ।।३७।।

बड़े-बड़े धर्मात्माओं को जिनभगवान् की प्रतिष्ठा का, उनके दर्शन का ऐसा भाव आता है और तू कहता है कि मुझे दर्शन करने का अवकाश नहीं मिलता अथवा मुझे पूजा करते शर्म आती है तो तुझे धर्म की रुचि नहीं, देव-गुरु का तुझे प्रेम नहीं। पाप के काम में तुझे अवकाश मिलता है और यहाँ तुझे अवकाश नहीं मिलता - यह तो तेरा व्यर्थ का बहाना है। जगत के पापकार्यो में, कालाबाजार आदि के करने में तुझे शर्म नहीं आती और यहाँ भगवान के समीप जाकर पूजा करने में तुझे शर्म आती है। वाह! बलिहारी है तेरी औंधाई की। ।।३८।।

वादिराज स्वामी कहते हैं कि प्रभो! आप जिस नगरी में अवतार लेते हैं, वह नगरी सोने की हो जाती है, तो ध्यान द्वारा मैंने मेरे हृदय में आपको स्थापित किया तो यह शरीर बिना रोग का सोने जैसा न होवे - यह कैसे हो सकता है? और आपको आत्मा में विराजमान करते ही आत्मा में से मोह रोग नष्ट होकर शुद्धता न होवे - यह कैसे बने? ।।३९।।

चाहे छोटी-सी वीतराग प्रतिमा हो, परन्तु स्थापना में त्रैकालिक वीतरागमार्ग का आदर है। इस मार्ग के आदर से ऊँचा पुण्य बँधता है। ।।४०।।

धर्म के लिए जो अनुकूल न हो अथवा धर्म के लिए जो बाधाकारक लगे - ऐसे देश को, ऐसे संयोग को धर्मीजीव छोड़ दे। जहाँ जिनमन्दिर आदि हो, वहाँ धर्मात्मा रहे और

वहाँ नये-नये मंगल-उत्सव हुआ करें। यदि कोई विशेष प्रकार का जिनमन्दिर अथवा जिनप्रतिमा हो तो वहाँ यात्रा करने के लिये अनेक श्रावक आवें। सम्मेदशिखर, गिरनार आदि तीर्थों की यात्रा भी श्रावक करता है। इसप्रकार यह मोक्षगामी सन्तों को याद करता है। ।।४१।।

श्रावक-धर्मात्मा आराधकभाव के साथ उत्तम पुण्य के कारण यहाँ से वैमानिक देवलोक में जाता है, वहाँ अनेक प्रकार महानऋद्धि और वैभव होते हैं; परन्तु धर्मी उनमें मूर्छित (मोहित) नहीं होता, वह वहाँ भी आराधना चालू रखता है। उसने आत्मा का सुख चखा है, इसलिये बाह्य वैभव में मूर्छित नहीं होता। स्वर्ग में जन्म होने पर वहाँ सबसे पहले उसे ऐसा भाव होता है कि अहो ! यह तो मैंने पूर्वभव में धर्म का सेवन किया था, उसका फल है; मेरी आराधना अधूरी रह गई और राग शेष रहा, इस कारण यहाँ अवतार हुआ; पहले जिनेन्द्रभगवान की पूजन-भक्ति की थी, उसका यह फल है, इसलिये चलो ! सबसे पहले जिनेन्द्र भगवान का पूजन करना चाहिये - ऐसा कहकर स्वर्ग में जो शाश्वत जिनप्रतिमायें हैं, उनकी पूजा करता है। ।।४२।।

यहाँ मध्यलोकमें कृत्रिम-जिनबिंबकी बात बतलायी है; यानी धर्मात्माओंका नई प्रतिमाएँ बनवाकर उनकी स्थापना करना अनादि नियम है, यह निश्चिंत होता है। और जो शाश्वत-प्रतिमाएँ हैं वे किसीकी बनाई हुई नहीं है। जो जीव स्वयं भेदज्ञान करता है, उसे प्रतिमाजी निमित्त होती है अर्थात् उसके

दर्शन-स्तुति करनेसे भेदज्ञान होता है। प्रतिमाजी एक दिव्यध्वनिके अतिरिक्त, साक्षात् भगवान-समान ही है। जो स्वयं धर्म-प्राप्त करते हैं उन्हें प्रतिमाजी निमित्त होती है। इस प्रकार यहाँ प्रतिमाजीको स्व-पर भेद-विज्ञानमें निमित्त बतलाया है। जो जीव प्रतिमाजीको मानते ही नहीं उन्हें कहते हैं कि सम्यग्दर्शनादिमें वस्त्रादि रहित वीतराग प्रतिमाजीका ही निमित्त होता है, व उनका अभिषेक भी स्वच्छ जलसे ही होता है, अन्य प्रकार नहीं। ।।४३।।

मुनिराज इस प्रकार परिणमित हो गये हैं - मानों वीतरागता की मूर्ति हों ! राग-द्वेष के अंशरहित मात्र वीतरागता की मूर्ति हैं मुनिराज ! मुनि को तो तीन कषाय का अभाव हुआ है, उन मुनिराज को शान्ति का सागर उछलता है। भगवान आत्मा वीतरागमूर्ति है और मुनिराज तो पर्याय में वीतरागता की मूर्ति हैं। श्री नियमसार के कलश में तो कहा है कि अरेरे ! हम जड़मति हैं कि मुनिराज मैं और सर्वज्ञ में भेद मानते हैं। आहा..हा...! मुनिराज तो मानों साक्षात् वीतरागकी मूर्ति हों इस प्रकार परिणमित हो गये हैं-उन्हें मुनि कहते है। ।।४४।।

अहो ! मुनिदशा अर्थात् केवलज्ञान की तलहटी ! आनंदानुभव के झूले में झूलते हुए हजारों बिच्छुओं के काटने पर या पचास कोस तक की भीषण वज्रपात की घोर ध्वनि होने पर भी जिसे ख़बर नहीं पड़ती और आनंद की गहराई में उतरकर क्षण में केवलज्ञान प्राप्त कर लें उस अद्भुत

मुनिदशा की क्या बात ! धन्य है वह दशा। ।।४५।।

बबूल के वृक्ष तले बैठे हुए मुनि - जिन के शरीर पर वस्त्र नहीं है, गर्म-गर्म हवा लग रही है, परन्तु अंतर में आनंद की झनझनाहट बज रही है - वे सुखी हैं। दूसरों को ऐसा लगता है कि बेचारा बाबा है, परन्तु यह बाबा नहीं बादशाह है। चक्रवर्ती हो तथापि वह दुःखी है, बादशाह नहीं है। ।।४६।।

मुनिराज कभी ऐसी इच्छा नहीं करते कि जगतमें उनका माहात्म्य व मान बढ़ें। मुनिको तो चारो-गतियोंके भावमें वैराग्य भाव वर्तता है, वे तो देव-गतिकी भी इच्छा नहीं करते। उनका बाह्य-तप ऐसा है कि पाँच इन्द्रियोंके भोगोंसे भी मन टूट गया है; इस समय मुनिराजको अंतरंग-तप भी होता है, अंतरात्मामें आत्माका ही प्रेम होता है। जैसे किसीका २१ वर्षका पुत्र मर गया हो तो उसके मोहवश कलेजेमें घाव लगते हैं, उसीके खयालमें जगतके अन्य पदार्थोंका प्रेम विस्मृत हो जाता है; वैसे मुनिराजको आत्माका प्रेम वर्तता है, अतः परका प्रेम नहीं रहता। ।।४७।।

अहो ! महान संत-मुनिवरोंने जंगलमें रहकर आत्मस्वभावका अमृत-निर्झर प्रवाहित किया है। आचार्यदेव तो धर्मके स्तंभ हैं, जिन्होंने पवित्र धर्मको जीवन्त कर रखा है;... गजबका काम किया है, साधक-दशामें स्वरूपकी शान्तिका वेदन करते हुए परिषहोंको जीतकर, परम सत्को अक्षुण्णरूपसे जीवंत रखा है। आचार्यदेवके कथनमें केवलज्ञानकी झंकार गूंजती है।

ऐसे महान् शास्त्रोंकी रचना कर उन्होंने बहुत जीवों पर असीम उपकार किया है। उनकी रचना तो देखो! पद-पदमें कितना गंभीर रहस्य भरा है। यह तो सत्यका शंखनाद है, इसके संस्कार होना कोई अपूर्व महाभाग्यकी बात है तथा उसकी समझ तो मुक्तिका वरण करने जानेवालोके लिए श्री-फल समान है। जो समझें उसका तो मोक्ष ही (होनेवाला) हैं। ।।४८।।

अहो, धन्य वह मुनिदशा ! मुनिराज कहते हैं कि हम तो चिदानन्दस्वभाव में झूलनेवाले हैं; हम इस संसार के भोग के लिये अवतरित नहीं हुए हैं। हम तो अब अपने आत्मस्वभाव की ओर झुकते हैं। अब हमारा स्वरूपस्थित होने का समय आ गया है। अन्तर के आनन्दस्वभाव की श्रद्धा सहित उस में रमणता करने हेतु जागृत हुए उस भाव में अब भंग नहीं पड़ेगा। अनन्त तीर्थंकर जिस पथ पर विचरे उसी पथ के हम पथिक हैं। ।।४९।।

सम्यग्दर्शन रहित जीव मुनिराज आदि उत्तम पात्र को आहारदान दे अथवा अनुमोदना करे तो उसके फल में वह भोगभूमि में उत्पन्न होता है, वहाँ असंख्य वर्ष की आयु होती है और दस प्रकार के कल्पवृक्ष उसे पुण्य का फल देते हैं। ऋषभदेव आदि जीवों ने पूर्व में मुनियों को आहारदान दिया - इससे वे भोगभूमि में जन्मे और वहाँ मुनि के उपदेश से सम्यग्दर्शन प्राप्त किया था। श्रेयांसकुमार ने ऋषभदेव भगवान को आहारदान दिया, उसकी महिमा तो प्रसिद्ध ह।।५०।।

जो जीव सच्चे देव - गुरु - धर्म का विरोध करता है और कुदेव - कुगुरु - कुधर्म का आदर करता है, उसे तो व्यवहार से भी श्रावकपना नहीं होता। वह तो मिथ्यात्व के तीव्र पाप में डूबा हुआ है। ऐसे जीवों को यदि पूर्व का पुण्य हो तो वह भी घट जाता है। ऐसे जीवों को तो महापापी कहकर पहली ही गाथा में निषेध किया है। उनमें तो धर्म की भी योग्यता नहीं है। यहाँ तो सच्चा श्रावक धर्मात्मा होने के लिये सबसे पहले सर्वज्ञदेव की पहचानपूर्वक सम्यग्दर्शन को शुद्ध करने का उपदेश है। ।।५१।।

भाई! ऐसा अमूल्य मनुष्यजीवन प्राप्त कर यों ही गँवा दे और सर्वज्ञदेव की पहिचान न करे, सम्यग्दर्शन का सेवन न करे, शास्त्रस्वाध्याय न करे, धर्मात्मा की सेवा न करे और कषायों की मन्दता न करे तो इस जीवन में तूने क्या किया ? आत्मा को भूलकर संसार में भटकते हुए अनन्तकाल बीत गया; उसमें महा मूल्यवान् यह मनुष्यभव और धर्म का ऐसा दुर्लभयोग मिला तो अब जो तेरा परमात्मा के समान स्वभाव है, उसे दृष्टि में लेकर मोक्ष का साधन कर! यह शरीर और संयोग तो क्षणभंगुर हैं, इनमें तो कहीं सुख की छाया भी नहीं है। ।।५२।।

देखो न! ग्वाले के भव में शास्त्रदान देकर ज्ञान का बहुमान किया तो इस भव में कुन्दकुन्दाचार्यदेव को कैसा श्रुतज्ञान प्रगटा और कैसी लब्धि प्राप्त हुई ? वे तो ज्ञान के अगाध सागर थे, उन्हें इस पंचमकाल में तीर्थंकर भगवान

की साक्षात् दिव्यध्वनि सुनने को मिली। मंगलाचरण के श्लोक में महावीर भगवान और गौतम गणधर के बाद 'मंगलं कुन्दकुन्दाचार्यो' - कहकर तीसरा नाम उनका लिया जाता है। ।।५३।।

जिसे ज्ञान का रस हो - प्रेम हो, वह हमेशा स्वाध्याय करे; नये-नये शास्त्रों के स्वाध्याय करने से ज्ञान की निर्मलता बढ़ती जाती है, उसे नये-नये वीतरागभाव प्रगट होते जाते हैं। अपूर्व तत्व के श्रवण और स्वाध्याय करने से उसे ऐसा लगता है कि अहो! आज मेरा दिन सफल हुआ।।५४।।

कोई नया महान् शास्त्र आवे, तब उसके बहुमान का उत्सव करे। शास्त्र अर्थात् जिनवाणी, वह भी भगवान की तरह ही पूज्य है। अपने घर को तोरण आदि से श्रृंगारित कैसे करता है और नये-नये वस्त्र लाता है ? उसी प्रकार जिनमंदिर के द्वार को भाँति-भाँति के तोरण आदि से श्रृंगारित करे और नये-नये चंदोबा आदि से शोभा बढ़ावे। इसप्रकार श्रावक के राग की दशा बदल गई है; साथ ही साथ वह यह भी जानता है कि यह राग पुण्यास्रव का कारण है और जितनी वीतरागी शुद्धता है, उतना ही मोक्षमार्ग है।

।।५५।।

जैसे अर्हंतप्रभुका लक्षण वीतरागता और केवलज्ञान है परन्तु बाह्य समवशरण लक्षण नहीं है; मुनिका लक्षण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता है, बाह्य नग्न शरीर नहीं; वैसे ही शास्त्रका (मुख्य) लक्षण नवतत्वों तथा यथार्थ रत्नत्रयरूप

मोक्षमार्गका निरूपण है, दया-दानादिका विवेचन उसका मुख्य लक्षण नहीं है।

लक्षण तो उसे कहते हैं कि जो उसी पदार्थमें हो व अन्य पदार्थमें न हो। हमारे भगवानके पास देवगण आते हैं -- यह कोई लक्षण नहीं है। अनन्त चतुष्टयकी प्रकटताके लक्षण ही से ही अर्हन्तकी पहिचान होती है। ।।५६।।

जो वीतराग देव और निर्ग्रन्थ गुरुओं को नहीं मानता, उनकी सच्ची पहिचान तथा उपासना नहीं करता, उसे तो सूर्योदय होने पर भी अन्धकार है। तथा जो वीतराग गुरुओं द्वारा प्रणित सत्शास्त्रों का अध्ययन नहीं करता, वह आँखें होने पर भी अन्ध है। विकथा पढ़ता रहे और शास्त्रस्वाध्याय न करे उसकी आँखें किस कामकी ? ज्ञानीगुरु के पास रहकर जो शास्त्रश्रवण नहीं करता और हृदय में उनके भाव को नहीं अवधारता, वह मनुष्य वास्तव में कान एवं मन से रहित है ऐसा कहा है। जिस घर में देव-शास्त्र-गुरु की उपासना नहीं होती वह सचमुच घर ही नहीं है, कारागृह है।

।।५७।।

`आत्मा ही आनन्द का धाम है, उसमें अन्तर्मुख होने से ही सुख है' - ऐसी वाणी की झंकार जहाँ कानों में पड़े वहाँ आत्मार्थी जीव का आत्मा भीतर से झनझना उठता है कि वाह ! यह भवरहित वीतरागी पुरुष की वाणी ! आत्मा के परम शान्तरस को बतलानेवाली यह वाणी वास्तव में अद्‌भुत है, अभूतपूर्व है। वीतरागी सन्तों की वाणी परम अमृत है,

भवरोग की नाशक अमोघ औषधि है। ।।५८।।

जिसे सर्वज्ञ के स्वरूप में संदेह है, सर्वज्ञ की वाणी में जिसे संदेह है, सर्वज्ञ के सिवा अन्य कोई सत्यधर्म का प्रणेता नहीं है - ऐसा जो नहीं पहिचानता और विपरीत मार्ग में दौड़ता है; वह जीव मिथ्यात्वरूपी महापाप का सेवन करता है, उसमें धर्म के लिए योग्यता नहीं है - ऐसा कहकर धर्म के जिज्ञासु को सबसे पहले सर्वज्ञ की और सर्वज्ञ के मार्ग की पहिचान करने को कहा है। ।।५९।।

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

५

भेद-ज्ञान

शुद्ध चैतन्य का ज्ञान शुद्ध दशा में हुआ, उस काल का ज्ञान ज्ञायक को भी जानता है और रागादि को भी जानता है; तथापि वह ज्ञान पर का नहीं है। वह ज्ञान तो ज्ञान का ही है। चैतन्यस्वरूप की दृष्टि होने पर पर्याय में स्व-पर का ज्ञान प्रगट हुआ **तब पर का जानना हुआ वह स्व ही है अर्थात्** राग संबंधी ज्ञान हुआ वह राग के कारण हुआ है अथवा वह राग का ज्ञान है ऐसा नहीं है, किन्तु ज्ञान का ही ज्ञान है। ।।१।।

शरीर तो एक ओर रह गया, परंतु खण्ड-खण्ड ज्ञान जिस पर्याय में होता है वह भी ज्ञायक का परज्ञेय है - ऐसी भावेन्द्रिय को किस प्रकार जीतना कहा जाय ? कि प्रतीति में आनेवाली एक अखण्ड चैतन्यशक्ति, त्रैकालिक

ज्ञायकशक्ति, ध्रुवशक्ति, उसके द्वारा, जो भिन्न है उसे अपने से सर्वथा भिन्न करने से भावेन्द्रिय को जीतना होता है। राग एवं पुण्य-पाप के विकल्प की बात तो कहीं रह गई किन्तु ज्ञान की वर्तमान पर्याय में क्षयोपशम का अंश प्रगट है उस भावेन्द्रिय को प्रतीति में आनेवाले अखण्ड एक ज्ञायकत्व द्वारा सर्वथा भिन्न जानो - उसका नाम भेदविज्ञान है। ।।२।।

व्यवहाररत्नत्रय का राग आया उसे ज्ञान ने जाना, वहाँ ज्ञान अपनी पर्याय को जानता है, राग को नहीं। **जाननेवाला स्व को जानते हुए पर को जाननेरूप परिणमता है तथापि उसे ज्ञेयकृत ज्ञान हुआ है ऐसा नहीं है, किन्तु उसे ज्ञानकृत ज्ञान है।** सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती को राग का ज्ञान हुआ वह राग के कारण नहीं हुआ है किन्तु स्व-परप्रकाशक शक्ति के कारण ज्ञान ज्ञान को जानता है; ज्ञेय को जानता है ऐसा कहना वह तो व्यवहार है। राग को जानते हुए जो ज्ञेयाकाररूप से ज्ञात हुआ वह आत्मा ज्ञात हुआ है, राग ज्ञात नहीं हुआ है, क्योंकि उसे ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है। ।।३।।

चैतन्य भगवान ज्ञान एवं आनंदरूप है, उसके साथ दया-दानादि के परिणामों को व्याप्य-व्यापकपना है, तथापि दोनों के बीच साँध है अर्थात् सचमुच आत्मा रागरूप नहीं परिणमता; भले स्थूलरूपसे ऐसा दिखाई दे कि आत्मा अशुद्धरूप परिणमित हुआ है। वर्तमान में राग के साथ जीव को अज्ञानरूप से व्याप्य-व्यापकपना हुआ है तथापि ज्ञान को सूक्ष्म उपयोग द्वारा

राग से भिन्न करके भेद करने पर भिन्नता की प्रतीति होती है। ।।४।।

अनन्त द्रव्यों का मैं कर्ता नहीं - ऐसा जहाँ ज्ञान में निर्णय करे, वहाँ मैं उनका ज्ञाता अनन्त हूँ - ऐसे अपने ज्ञान की अनन्तता बैठने पर राग का अंत आ जाता है। अनंत ज्ञेयों को जान लेने से ज्ञेयों का अंत नहीं आ जाता, परन्तु अपने ज्ञान की अनन्तता जिसे बैठ गई उसे राग की एकता टूटकर राग का अंत आ जाता है। ।।५।।

वास्तव में तो खण्ड-खण्ड ज्ञान त्रैकालिक स्वभाव की अपेक्षा से संयोगरूप है। जिस प्रकार इन्द्रियाँ संयोगरूप हैं उसी प्रकार यह खण्ड-खण्ड ज्ञान भी संयोगरूप है, स्वभावरूप नहीं है। ।।६।।

अहा..हा...! जातिस्मरणज्ञान में सामनेवाले का पूर्व शरीर जानने में नहीं आता, आत्मा जानने में नहीं आता, तथापि निर्णय कर लेता है कि यही आत्मा अपना संबंधी था ! इतनी तो जातिस्मरण की शक्ति है ! तब फिर केवलज्ञान की शक्ति कितनी होगी !! मतिज्ञान की पर्याय भी इतना कार्य निरालम्बनरूप से करती है तो केवलज्ञान के निरालम्बीपने का क्या कहना ! ।।७।।

विद्यमान नहीं है तथापि भूत-भविष्य की पर्यायें ज्ञान में सीधी ज्ञात होती हैं। 'हैं' इस प्रकार सीधी ज्ञान में ज्ञात होती हैं। प्रभु ! अपने चैतन्यस्वभाव की पर्याय का स्वभाव तो देख ! वर्तमान में जो पर्याय होती है उसे जानता है

- ऐसा नहीं परन्तु भविष्य की पर्यायों को वर्तमान में प्रत्यक्ष जानता है। अहा..हा...! ऐसे केवलज्ञान की पर्याय का निर्णय करने जाये उसका लक्ष द्रव्यस्वभाव की ओर ही जाता है, तभी उसका निर्णय होता है। ।।८।।

ग्राह्य-ग्राहक संबंध की निकटता के कारण अज्ञानी को परज्ञेय के साथ एकता भासित होती है कि शास्त्र पढ़े इसलिये ज्ञान हुआ, शास्त्र सुनने से मुझे ज्ञान हुआ। इसलिये कहता है कि ज्ञेय से ज्ञान हुआ, वह भ्रमणा छोड़ दे। वाणी से ज्ञान होता है वह भ्रमणा छोड़ दे। ज्ञान के क्षयोपशम द्वारा - भावेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होनेवाले इन्द्रियविषयों को, भावेन्द्रिय या निमित्त की अपेक्षा बिना अपने चैतन्यस्वभाव का स्वयमेव अनुभव में आता हुआ ज्ञेयों के संबंध रहित जो असंगपना, उसके द्वारा सर्वथा भिन्न करके इन्द्रियविषयों का जीतना होता है। ।।९।।

तू परमात्मास्वरूप है इसलिये जानना-देखना ही तेरा स्वरूप है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी स्वभाववान है, परन्तु उसे न देखकर राग को जानने में रुक गया है, इसलिये सर्व को जाननेवाले ऐसे अपने को नहीं जानता। राग में रुका है, बंध में अटका है, इसलिये सर्व को सर्व प्रकार से जाननेवाले ऐसे अपने को नहीं जानता। सर्वको नहीं जानता ऐसा नहीं कहा, परन्तु सर्व को जाननेवाले ऐसे अपने को नहीं जानता ऐसा कहा है। ।।१०।।

स्वभाव का सामर्थ्य तुझे दिखायी नहीं देता या और

दरिद्रता दिखायी देती है। शास्त्रों के चाहे जितने ज्ञातृत्व से भी आत्मा का सुख नहीं मिलेगा। आत्मा कौन है वह जानने से तुझे सुख की प्राप्ति होगी, क्योंकि उस में सुख है। पर में सुख नहीं है इसलिये पर को जानने से दुःख होगा। राग से तो दुःख होगा किन्तु पर को जानने से भी दुःख होगा; क्योंकि परप्रकारशक ज्ञान कब सच्चा हुआ कहा जाता है? जब स्वप्रकाशक ज्ञान प्रगट हो तब। स्वप्रकाशक रहित अकेले परप्रकाशक ज्ञान से दुःख होगा। राग तो बंध का कारण है, किन्तु धर्मी परप्रकाशक ज्ञान को भी मोक्षमार्ग नहीं मानते। **।।११।।**

शुभराग वह मेरी वस्तु है ऐसा अभ्यास अनादि से हो गया है। आत्मा करनेवाला और शुभराग उसका कर्म ऐसी कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति अज्ञान के कारण है। अपने स्वरूप को नहीं जानते ऐसे अज्ञानी जीव राग के साथ एकत्वबुद्धि करके 'राग मेरा कर्तव्य है' - ऐसी कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति अज्ञान के कारण कर रहे हैं। राग के साथ एकत्व मान रखा है परन्तु ज्ञायकप्रभु एकरूप नहीं हुआ। राग की एकत्वबुद्धि वह अज्ञान का अभ्यास है और रागसे भिन्न होकर ज्ञायक का अभ्यास वह धर्म का अभ्यास है - ज्ञान का अभ्यास है। **।।१२।।**

ज्ञान ज्ञेयों को जानता है कि यह शरीर है इत्यादि; तथापि वे ज्ञेय आत्मा को ज्ञान कराते हों ऐसा नहीं है। ज्ञान में घड़ा ज्ञात हुआ वहाँ वास्तव में घड़ा ज्ञात नहीं हुआ

किन्तु घड़ा सम्बन्धी अपने ज्ञान को जानता है, तथापि उस ज्ञान को घड़े ने नहीं किया है। ज्ञान की पर्याय का कर्ता ज्ञान अर्थात् आत्मा है, परद्रव्यों का ज्ञेयों का वह कार्य नहीं है। भगवान की दिव्यध्वनि कानोंमें पड़ी इसलिये उन शब्दोंसे वैसा ज्ञान हुआ ऐसा नहीं है। वास्तवमें भगवानकी वाणी, दिव्यध्वनि छूटती है तथापि पूछनेवाले ने जो पूछा उसीका उसे ज्ञान हुआ की किन्तु वह ज्ञान वाणी के कारण नहीं हुआ है। दिव्यध्वनि की उपस्थिति थी, निमित्त था, निमित्त नहीं ऐसा नहीं, किन्तु निमित्त पर में कुछ नहीं करता। वाणी निमित्त होने पर भी वाणी से ज्ञान हुआ है ऐसा नहीं है। भगवान के दर्शन होने पर भगवान हैं ऐसा ज्ञान हुआ, तथापि भगवान के कारण यह भगवान हैं ऐसा ज्ञान नहीं हुआ। **।।१३।।**

मैं चेतन सर्वस्व हूँ उसमें पर का ज्ञेयपना नहीं आता। शास्त्र ज्ञेय हैं और उससे ज्ञान हुआ ऐसा तो नहीं है, परन्तु शास्त्र ज्ञेय हैं और मैं उनका ज्ञाता हूँ ऐसा भी नहीं है। पर के ज्ञान मात्र वह ज्ञेय मैं नहीं हूँ। छह द्रव्य का ज्ञान हुआ वह छह द्रव्यों के कारण नहीं हुआ है, अपने ही ज्ञान से पर्याय हुई है, स्व-परप्रकाशक पर्याय उत्पन्न हुई है वह पर्याय ही ज्ञेय है। **।।१४।।**

तीनकाल तीनलोक की जो पर्यायें हैं, वे सब ज्ञेयरूप से केवलज्ञान की पर्याय में अर्पित हो जाती हैं। जितने ज्ञेय हैं उनकी भूत-वर्तमान-भविष्य की समस्त पर्याय एक समय में ज्ञान में अकम्परूप से अर्पित हो जाती हैं - ज्ञात हो

जाती हैं। भूतकाल की और भविष्य की तथा वर्तमान की समस्त पर्यायें मानों स्थिर हों इसप्रकार अकम्परूप से ज्ञान को ज्ञेयरूप से अर्पती हैं - ज्ञेयरूप से वर्तती हैं। ऐसा क्रमबद्ध स्वरूप, है उसे जो नहीं मानता वह वस्तुस्थितिको नहीं मानता और जो वस्तुस्थितिको नहीं मानता वह केवलज्ञान को ही नहीं मानता। ।।१५।।

ज्ञानलक्षण आत्मा स्वभावतः राग से भिन्न ही है। खान में जैसे पत्थरों के बीच साँध जैसी पतली दरार होती है, उस दरार में बारूद भरकर फोड़ा जाता है, तब सैकड़ों मन के बड़े-बड़े पत्थर अलग हो जाते हैं; उसीप्रकार ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा और विभावस्वरूप राग के बीच साँध है, साँध रहित कभी नहीं हुए। आत्मा का चैतन्यदल और शुभाशुभ राग, भले ही वह तीर्थंकरनामकर्म बँधे ऐसा शुभराग हो, उन दोनों के बीच साँध है; त्रैकालिक वीतरागस्वभाव और राग कभी भी एक हुए ही नहीं। अनादि राग में अपनत्व के अध्यास से अज्ञानी को एक लगते हैं, परन्तु आत्मा और राग कभी एक हुए ही नहीं हैं, माने फिर भी एक नहीं हुए हैं। अपने-अपने नियत लक्षण से दोनों पृथक् ही हैं। ।।१६।।

वक्ता की पर्याय की निर्मलता में वृद्धि हुई और वह निमित्त होकर जो वाणी आती है उसे सुनकर श्रोता को भी ज्ञान में नवीन-नवीन विशेषता न लगे तो उसका ज्ञान वहाँ का वहीं स्थिर है, अर्थात् अनादि की जो जाति है वह वही है। जिस जाति का विकल्प में बहुमान का नया-नया

विकल्प उठे और उसीको उस समय ज्ञान जाने ऐसा विशेषतायुक्त ज्ञान नहीं है तो उसका ज्ञान यथार्थ नहीं है। ।।१७।।

भगवान आत्मा ज्ञानमय है। केवल ज्ञानमय अर्थात् अकेला ज्ञानमय है, त्रैकालिक ज्ञानमय है। वह केवलज्ञान से पूर्ण है। लोकालोक को जाने ऐसा ही उसका स्वभाव है। वर्तमान पर्याय में केवलज्ञान नहीं है उसकी यहाँ बात नहीं है। लोकालोक को जाने और आगे-पीछे की पर्याय को न जाने ऐसा नहीं हो सकता; तीनोंकाल का सब कुछ जाने ऐसा ही उसका स्वभाव है। जो भविष्य की पर्याय वर्तमान में नहीं है उसका केवलज्ञान में ज्ञान आता है। जैसे-आटे के पिण्डमें से रोटी होगी वह पहले से जाना जा सकता है, रोटी नहीं है फिर भी जाना जा सकता है, उसीप्रकार भविष्य की पर्याय वर्तमान में नहीं है तथापि केवलज्ञान में जानी जा सके ऐसी केवलज्ञानपर्याय की शक्ति है और ऐसा ज्ञानमय तेरा आत्मा है उसे जान ! लोकालोक को जानने के स्वभावरूप ज्ञानमय आत्मा को जान ! ।।१८।।

भगवान द्रव्यस्वभाव परिपूर्ण शुद्धता से भरपूर है। वह द्रव्यस्वभाव सम्यग्दर्शन का - श्रद्धा पर्याय का विषय है। ज्ञान की पर्याय में भी निर्लेप द्रव्यस्वभाव ज्ञेय होता है, ज्ञानकी पर्यायमें वह ज्ञात होता है, तथापि वह ज्ञानकी पर्यायमें आ नहीं जाता। अहा ! बात बड़ी सूक्ष्म है भगवान ! ।।१९।।

अपने सिवा स्त्री आदि परपदार्थों में राग करता है

अर्थात् उनके प्रति प्रेम है तो दूसरों के प्रति द्वेष होगा ही। सम्यग्दृष्टि तो अपने को ज्ञातादृष्टा मानता है इसलिये उसकी दृष्टि में जगत में कोई पदार्थ प्रेम करने योग्य है ही नहीं। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप शुद्ध चिदानन्द प्रभु है; उसका ज्ञान हुआ कि मैं तो ज्ञातादृष्टा चैतन्य हूँ, मेरे सिवा अन्य अनन्त पदार्थ हैं वे मेरे ज्ञेय हैं, जानने योग्य हैं - ऐसा धर्मी जीव जानता है। अपना शुद्ध चैतन्यस्वभाव ज्ञान-आनंदस्वरूप है ऐसी दृष्टि होने के कारण ज्ञानी अपने सिवा अनन्त पदार्थों के दो भाग नहीं करते। एक इष्ट है और एक अनिष्ट है - ऐसे दो भाग सम्यग्ज्ञानी नहीं करते। अपना स्वरूप ज्ञान एवं आनंदरूप है ऐसी जिन्हें प्रतीति नहीं है वे अज्ञानी जीव, जगत के समस्त पदार्थ ज्ञान में ज्ञेयरूप होनेपर भी एक ठीक है वह ग्रहण करने योग्य है, एक ठीक नहीं है वह द्वेष करने योग्य है - ऐसे दो भाग करते हैं।।२०।।

दर्पण की वर्तमान अवस्था में जल, कोयला, बर्फ, अग्नि, सर्पादि ज्ञात होते हैं; उस अवस्था जितना ही जो मानता है, अवस्था पलटने पर उसके पीछे जो स्वभाव रह जाता है उसे नहीं मानता वह अज्ञानी है। उसीप्रकार एक समय की पर्याय जितना ही आत्मा को माननेवाला ज्ञेय बदलने पर ज्ञान की अवस्था बदल जाती है वहाँ मैं नष्ट हो गया ऐसा मानता है; परन्तु ज्ञान की वह पर्याय बदल जानेपर भी ज्ञानस्वभाव उसके पीछे ज्यों का त्यों विद्यमान है उसे अज्ञानी नहीं मानता। ।।२१।।

अपने ज्ञायकस्वभाव में मैत्री होना चाहिये, उसके बदले परपदार्थ निमित्त हैं, उसमें अज्ञानी को प्रेम वर्तता है, वहाँ रुक गया है, ज्ञातृत्व की पर्याय में बाह्य पदार्थ निमित्त होने से उसमें मैत्री के कारण आत्मविवेक शिथिल अर्थात् विपरीत हुआ है, इसलिये उसे अपने आत्मा के प्रति द्वेष वर्तता है। सच्चिदानन्दप्रभु निरंजन निराकार आत्मा जो कि ज्ञानलक्षण द्वारा लक्षित होनेवाला है उसे भूलकर ज्ञान की पर्याय में जो ज्ञेय निमित्त हैं वे जानने योग्य हैं - ऐसा न जानकर परपदार्थों में - निमित्तों में मैत्री करता है, इसलिये स्वभाव के प्रति विपरीतता वर्तती है, द्वेष वर्तता है। ।।२२।।

राग को जानना वह ज्ञान का स्वकाल है; आत्मा राग में व्याप्त नहीं होता। ज्ञान की जानने की पर्याय और राग की पर्याय अपने-अपने षट्कारकों से स्वतंत्र होती है। पर की दया तो आत्मा नहीं पाल सकता, परन्तु राग को भी आत्मा नहीं करता और राग में व्यापता भी नहीं है। राग के काल में होनेवाले रागपरिणामों को स्वकाल में होनेवाली ज्ञानपर्याय जानती है, परन्तु ज्ञान उसका कर्ता नहीं है। ।।२३।।

एकरूप अभेद निर्विकल्प वस्तु वह स्वद्रव्य है और उसमें गुण या पर्याय के भेद की कल्पना करना वह भेदकल्पना परद्रव्य है। आत्मा और यह गुण, इसप्रकार अभेद वस्तु में भेद करना वह परद्रव्य है। शरीर-मन-वाणी परद्रव्य तो कहीं रह गये; यहाँ तो ज्ञानादि अनन्त गुण वे आधेय हैं और आत्मा

उनका आधार है -ऐसे आधेय-आधार के भेद करना वह परद्रव्य है, इसलिये वह हेय है। परद्रव्य के लक्ष से तो राग होता है परन्तु अभेद वस्तु में भेद करके देखने से भी राग होता है। गजब बात है न ! अन्तिम से अन्तिम शिखर की बात है। ।।२४।।

देवरानी-जेठानी आदि को जब अलग होना होता है तब पहले से एक-दूसरे के दोष ढूँढ़कर बूरा बोलने लगती हैं, वे उनके अलग होने के लक्षण हैं। उसीप्रकार ज्ञान और राग के बीच भेदज्ञान होने का यह लक्षण है कि ज्ञान में राग के प्रति तीव्र अनादरभाव जागृत होता है, वह उन दोनों के बीच भेदज्ञान होने का लक्षण है। आत्मा में राग की गंध नहीं है। राग के जितने विकल्प उठते हैं उनमें जलता हूँ, उनमें दुःख ही दुःख है-विष है - ऐसा निर्णय पहले ज्ञान में कर ले तो भेदज्ञान प्रगट होता है। ।।२५।।

कोई भी जीव अपने अस्तित्व के बिना क्रोधादि होने के काल में यह नहीं जान सकता कि यह क्रोधादि हैं। अपने अस्तित्व में ही वे क्रोधादि ज्ञात होते हैं। रागादि को जानते हुए भी...ज्ञान ऐसा मुख्यतः ज्ञात होनेपर भी 'ज्ञान सो मैं' ऐसा न मानकर, ज्ञान में ज्ञात होनेवाले रागादि सो मैं, ऐसा राग में एकत्वबुद्धिसे जानता है-मानता है, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। ।।२६।।

भाई ! शरीरके संसर्ग और परसे उत्पन्न होनेवाले विकल्पों को तू भूल जा। अनन्त ज्ञान आदि अनन्त शक्तियाँ

रागको स्पर्श नहीं करती बल्कि, एक समयकी पर्यायको भी नहीं स्पर्शती। तू ऐसा अनन्त ज्ञानमय और परम आनन्द स्वभावी है - ऐसा दृष्टिमें स्वीकार कर। पांच इन्द्रियोंकी ओरका प्रेम है, वही आनन्दका क्षय करनेवाला और शान्तिको जलानेवाला है। ।।२७।।

प्रश्न :- क्या हमारे लिए इस चक्करसे छूटनेका कोई रास्ता नहीं है ?

उत्तर :- 'परसे भिन्न हूँ' - ऐसा भेदज्ञान करना - संसार चक्रसे छूटनेका यही एक मात्र रास्ता है, दुःखसे छूटनेका अन्य कोई रास्ता नहीं है। ।।२८।।

सर्व प्रथम क्रिया कौन-सी ? कि सर्व प्रकारके भेदज्ञानमें प्रवीण होना ही सर्व प्रथम क्रिया है। ''द्रव्य तो त्रिकाली और निरावरण है,'' पर वर्तमान पर्यायमें रागादिको मिश्रित कर रखा है। तो भी भेदज्ञानकी प्रवीणतासे, ''राग-दशाकी दिशा पर-ओर है व ज्ञान-दशा स्व-ओर है'' - ऐसे दो दशाओंके मध्य प्रज्ञाछैनी लगानेसे - भिन्नताका अनुभव हो सकता है। ।।२९।।

अपनेमें केवलज्ञान प्रकट करना - यह तो जीवका स्वभाव है। यह प्रकट नहीं हो सकता- ऐसा न मान। केवलज्ञान प्रकट करना यह दुष्कर है, ऐसा न मान। जीवको परमाणु बनाना हो तो यह नहीं हो सकता। अरे ! रागको नित्य रखना हो तो वह भी नित्य नहीं रख सकता, परन्तु शुद्धता प्रकट करना - यह तो जीवका स्वभाव है। यह कैसे न

हो सके ? यह कैसे कठिन है? जीवमें स्थिर होना, शुद्धता प्रकट करनी - यह तो जीवका स्वभाव होनेसे हो सकता है। अतः ``न हो सके'' ऐसी मान्यतारूप शल्य छोड़ दे। ।।३०।।

जड़-द्रव्येन्द्रिय, खंड-खंड ज्ञानरूप भावेन्द्रिय और पांच इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थ, इन तीनोंको ज्ञायकके अवलंबन द्वारा भिन्न करना - यही इन्द्रियोंको जीतना कहलाता है। तीनोंका लक्ष्य छोड़कर निज आत्मामें एकाग्रता करना - यही निश्चय स्तुति है। ।।३१।।

आत्माका वेदन कैसे हो ? कि वह कोई निमित्त और रागमें प्रेम करनेसे नहीं होता। जो चेतनकी चेतना है, वह ज्ञान-दर्शन द्वारा ख्यालमें आती है; वह परसे तो नहीं बल्कि ज्ञानके सिवाय अन्य गुणोंसे भी खयालमें नहीं आती - ऐसे ज्ञान-लक्षण द्वारा चेतना जाननेमें, चेतना द्वारा, चेतन-सत्ताका निर्णय होता है। जब ज्ञानमें चेतना खयालमें आई तभी ऐसा निर्णय हुआ कि "यह चेतन-सत्ता है"। जानने-देखने वाली वस्तु द्वारा सुख अंश प्रकट हुआ तभी चेतन-सत्ताका निर्णय हुआ। ।।३२।।

जिनके अंतरमें भेदज्ञानरूपी कला जगी है, चैतन्यके आनन्दका वेदन हुआ है -- ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा सहज वैरागी हैं। ऐसे ज्ञानी, विषय-कषायोंमें मग्न हों - एसी विपरीतता सम्भवित नहीं है। जिन जीवोंको विषयोंमें सुख-बुद्धि है, वे ज्ञानी नहीं हैं। ज्ञानीको तो अंतरके चैतन्यसुखके अलावा, समस्त

विषय-सुखके प्रति उदासीनता होती है। **अभी जिसको अंतरमें आत्मभान ही न हो, तत्व संबंधी कुछ भी विवेक न हो, वैराग्य न हो; और वह ध्यानमें बैठकर अपनेको ज्ञानी माने, तो वह स्वच्छंद पोषण करता है, ज्ञान-वैराग्य शक्ति-बिना वह पापी ही है।** ।।३३।।

प्रश्न :- भेद ज्ञान का क्या अर्थ है ?

उत्तर :- आत्मा उपयोगस्वरूप है, रागादि परभावों से भिन्न है - इस प्रकार उपयोग और रागादि को सर्वप्रकार से अत्यन्त भिन्न जानकर, राग से भिन्नत्वरूप और उपयोग से एकत्वरूप ज्ञान का परिणमन भेदज्ञान है। ।।३४।।

प्रश्न :- भेदज्ञानी क्या करता है ?

उत्तर :- भेदज्ञानी धर्मात्मा अपने भेदज्ञान की शक्ति से निज महिमा में लीन होता है। वह रागरूप किंचित्मात्र भी नहीं परिणमता, ज्ञानरूप ही रहता है। ।।३५।।

प्रश्न :- शरीर को आत्मा से भिन्न कहा, यह तो ठीक है, जँचता भी है, परन्तु राग आत्मा से भिन्न है, यह गले उतरना कठिन लगता है ?

उत्तर :- चैतन्य में अन्दर गया अर्थात् पुण्य-पापभाव का साक्षी हो गया, तब वह भाव से भिन्न है, काल से भिन्न है और क्षेत्र से भी भिन्न है, वस्तु भिन्न ही है, आत्मा तो अकेला ज्ञानघन चैतन्यपुंज ही है। ।।३६।।

प्रश्न :- धर्मात्मा रागरूप नहीं परिणमता - इसका अर्थ क्या उसे राग तो होता है न ?

उत्तर :- राग होने पर भी उसे राग में एकत्वबुद्धि नहीं होती अर्थात् राग के साथ आत्मा की एकतारूप वह नहीं परिणमता, किन्तु राग से भिन्नपने ही परिणमता है।

।।३७।।

प्रश्न :- विकारभावों को आत्मा से अन्य क्यों कहा, जबकि वे आत्मा में ही होते है ?

उत्तर :- आत्मा की अवस्था में जो राग-द्वेषादि विकारीभाव होते है, वे रूपी नहीं है और अजीव में भी नहीं होते। यद्यपि वे अरूपी हैं और आत्मा की ही अवस्था में होते हैं, तथापि द्रव्यदृष्टि में उन्हें आत्मा से अन्य वस्तु कहा गया है, क्योंकि आत्मा के शुद्धस्वभाव की अपेक्षा वे विकारभाव भिन्न हैं, अतः अन्यवस्तु हैं। वे विकारभाव शुद्धात्मा के आश्रय से नहीं होते, जड़ के लक्ष से होते हैं। धर्मात्मा की दृष्टि आत्मा के शुद्धस्वभाव के उपर है और उस स्वभाव में से विकारभाव आते नहीं, इसलिए धर्मी उनका कर्त्ता नहीं होता। अतः उन्हें जड़ पुद्गलपरिणाम कहकर आत्मा से अन्यवस्तु कहा गया है। वे परिणाम न तो पुद्गल में होते हैं और न उन्हें कर्म ही कराते हैं, वे आत्मा की ही पर्याय में होते हैं, तथापि पर्यायबुद्धि छुड़ाने और शुद्धद्रव्य की दृष्टि कराने के लिए उन्हें आत्मा से अन्य कहा है, परन्तु उन्हें अन्य है - ऐसा वही कह सकता है, जिसे शुद्धात्मा की दृष्टि हुई हो। अज्ञानी को तो विकार और आत्मस्वभाव की भिन्नता का भान ही नहीं है, इसलिए वह तो दोनों को एकमेक मानकर विकार का कर्त्ता

होता है, विकार उसके लिए आत्मा से अन्य नहीं रहा।

।।३८।।

प्रश्न :- आत्मा में राग-द्वेष होने पर भी 'वे राग-द्वेष मैं नहीं' - ऐसा उसी समय कैसे माना जाय ? राग-द्वेष के अस्तित्व के समय ही राग-द्वेष रहित ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा किसप्रकार हो सकती है ?

उत्तर :- राग-द्वेष तो पर्याय में हैं, उसी समय यदि पर्याय दृष्टि को गौण करके स्वभावदृष्टि से देखो तो आत्मा का स्वभाव राग रहित ही है। राग होने पर भी शुद्धात्मा तो राग से रहित है। राग-द्वेष होना तो चारित्रगुण का विकारी परिणमन है और शुद्धात्मा को मानना श्रद्धागुण का तथा शुद्धात्मा को जानना ज्ञानगुण का निर्मल परिणमन है इस प्रकार प्रत्येक गुण का परिणमन भिन्न-भिन्न कार्य करता है।

चारित्र के परिणमन में विकारदशा होने पर भी श्रद्धा-ज्ञान गुण का परिणमन उसमें न लगकर त्रिकाली शुद्धस्वभाव में बढ़े - झुके, श्रद्धा की पर्याय ने विकार रहित सम्पूर्ण शुद्धात्मा को लक्ष करके स्वीकार किया और ज्ञान की पर्याय भी चारित्र के विकार का नकार करके स्वभाव का लक्ष करने लगी अर्थात् उसने भी विकाररहित शुद्धात्मा को जाना।

इसप्रकार चारित्र की पर्याय में राग-द्वेष होने पर भी श्रद्धा और ज्ञान स्वलक्ष द्वारा शुद्धात्मा की श्रद्धा और ज्ञान कर सकते हैं। **।।३९।।**

प्रश्न :- आत्मा और पर का संबंध नहीं है - यह

समझने का प्रयोजन क्या ?

उत्तर :- पर के साथ संबंध नहीं अर्थात् परलक्ष से जो विकार होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है - इस प्रकार पर के साथ का संबंध तोड़कर तथा अपनी पर्याय का भी लक्ष छोड़कर अभेद स्वभाव की दृष्टि करना - यही प्रयोजन है। ।।४०।।

प्रश्न :- राग को जीव का कहें या पुद्गल का?

उत्तर :- राग को जीव अपनी पर्याय में स्वयं करता है, अतः पर्याय दृष्टि से जीव का है। द्रव्यदृष्टि से जीवस्वभाव में राग है ही नहीं, अतः राग जीव का नहीं, पुद्गल के लक्ष से होता होने से पुद्गल का है। ।।४१।।

प्रश्न :- समयसार गाथा ६ में समस्त अन्य द्रव्य के भावों से भिन्नपने उपासने में आता हुआ 'शुद्ध' कहा जाता है - ऐसा कहा। यहाँ विकार से भिन्न उपासने में आता है - ऐसा क्यों नहीं कहा ?

उत्तर :- अन्य द्रव्य के भावों से भिन्न उपासने पर विकार और पर्याय के उपर का भी लक्ष छूटकर स्वद्रव्य के उपर लक्ष जाता है। ।।४२।।

प्रश्न :- राग-द्वेष को जीव की पर्याय कहा है और फिर उसी को निश्चय से पुद्गल का परिणमन भी कहा। अब हम क्या निश्चय करें ?

उत्तर :- राग-द्वेष है तो जीव का ही परिणाम, किन्तु वह पुद्गल के लक्ष्य से होता होने से और जीव का स्वभावभाव

न होने से तथा स्वभावदृष्टि कराने के प्रयोजन से, पुद्गल का कहा गया है, क्योंकि निमित्ताधीन होनेवाले भाव को निमित्त का भाव है, पुद्गल का भाव है - ऐसा कहने में आता है। ।।४३।।

प्रश्न :- राग आत्मा का है या पुद्गल कर्म का? दोनों प्रकार के कथन शास्त्र में आते है। कृपया रहस्य बतलाए ?

उत्तर :- वस्तु की सिद्धि करनी हो, तब राग व्याप्य है और आत्मा व्यापक है अर्थात् राग आत्मा का है - ऐसा कहा जाता है। जब दृष्टि शुद्ध चैतन्य की हुई, सम्यग्दर्शन हुआ, तब निर्मलपर्याय व्याप्य और आत्मा व्यापक है, सम्यग्दृष्टि का जो राग है, वह व्याप्य और कर्म उसका व्यापक है। सम्यग्दृष्टि का जो राग है, वह पुद्गल कर्म का कहा जाता है क्योंकि ज्ञानी जीव दृष्टि अपेक्षा राग से भिन्न पड़ गया है, इसलिए उसके राग में कर्म व्यापता है - ऐसा कहा जाता है। ।।४४।।

प्रश्न :- राग पुद्गल का परिणाम है, पुद्गल का परिणाम है.....ऐसा ही कहते रहेंगे तो राग का भय ही नहीं रहेगा, और फिर तो महादोष उत्पन्न होगा ?

उत्तर :- ऐसा नहीं होगा, राग की रुचि ही उत्पन्न नहीं होगी। राग की रुचि छोड़ने के लिए ही ऐसा जानना चाहिए कि राग पुद्गल का परिणाम है। भाई। शास्त्र में कोई भी कथन स्वच्छन्दता उत्पन्न करने के लिए नहीं किया है, वीतरागता उत्पन्न करने के लिए ही किया है। ।।४५।।

प्रश्न :- क्या राग आत्मा से भिन्न है और क्या यह निषेध करने योग्य भी है ?

उत्तर :- हाँ, राग आत्मा से भिन्न है, राग में ज्ञानगुण नहीं है और जिसमें ज्ञानगुण न हो, उसको आत्मा कैसे कहा जाय ? इसलिए राग है वह आत्मा नहीं है। आत्मा की शक्ति के निर्मल परिणाम से राग का परिणाम भिन्न है। आत्मा से भिन्न कहो या निषेध योग्य कहो - एक ही बात है। मोक्षार्थी को जैसे पराश्रित राग का निषेध है, उसी प्रकार पराश्रित ऐसे सर्व व्यवहार का भी निषेध ही है, राग और व्यवहार दोनों एक ही कक्षा में हैं - दोनों ही पराश्रित होने से निषेध योग्य हैं और उनसे विभक्त चैतन्य का एकत्वस्वभाव वह परम आदरणीय है। **।।४६।।**

प्रश्न :- ज्ञान में राग तो जाना जाता है फिर भी ज्ञान से राग एकमेक हो गया हो - ऐसा क्यों लगता है ?

उत्तर :- भेदज्ञान के अभाव से अज्ञानी राग और ज्ञान की अति निकटता देखकर उन दोनों को एकमेक मान लेता है, परन्तु राग और ज्ञान का एकत्व है नहीं। **।।४७।।**

प्रश्न :- समयसार संवराधिकार की प्रारंभिक गाथा १८१ की टीका में कहा है कि वास्तव में एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं है। वहाँ यह भी कथन है कि जीव और राग के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। कृपया स्पष्ट कीजिये ?

उत्तर :- वास्तव में एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं

है, इसलिए दोनों के प्रदेश भिन्न हैं। आत्मवस्तु से शरीरादि परद्रव्य तो भिन्न हैं ही, किन्तु यहाँ तो मिथ्यात्व व राग-द्वेष के जो परिणाम हैं, वे भी निर्मलानन्द प्रभु - ऐसे आत्मा से भिन्नस्वरूप हैं। अतः पुण्य-पापभाव आत्मा के भाव से भिन्न हैं और भाव से भिन्न होने के कारण उनके प्रदेश भी भिन्न हैं। असंख्य प्रदेशी आत्मा है, उससे आश्रव के प्रदेश भिन्न हैं। ये हैं तो जीव के प्रदेश में ही, परन्तु निर्मलानन्द प्रभु असंख्यप्रदेशी ध्रुव है, उससे आश्रवभाव के प्रदेश भिन्न हैं। आत्मा और आश्रव को भाव से भिन्नता है, इसलिए उनके प्रदेश को भिन्न कहा और आत्मा के आश्रय से प्रकट हुई निर्मलपर्याय भी आश्रव वस्तु से भिन्न कही गई है। भाव से भिन्न होने के कारण उनके प्रदेश को भी भिन्न कहकर वस्तु ही भिन्न है - ऐसा कथन आचार्य ने किया है। **।।४८।।**

प्रश्न :- रागादिक की तथा ज्ञान की उत्पत्ति एक ही क्षेत्र और एक ही समय में होती है, फिर इन दोनों की भिन्नता किस प्रकार है ?

उत्तर :- जिस समय और जिस क्षेत्र में रागादिक की उत्पत्ति होती है उसी समय और उसी क्षेत्र में ज्ञान की उत्पत्ति होती होने से अज्ञानी को भ्रम से वे दोनों एक ही प्रतीत होते है, फिर भी वे रागादिक और ज्ञान स्वभाव से भिन्न-भिन्न ही हैं, एक नहीं। बन्ध का लक्षण रागादि है और चैतन्य का लक्षण जानना है। इस प्रकार दोनों के लक्षण भिन्न हैं। रागादिक का चैतन्य के साथ एक ही समय और

एक ही क्षेत्र में उपजना होता है, वह चेत्य-चेतक, ज्ञेय-ज्ञायकभाव की अति निकटता से होता है, किन्तु एक द्रव्यपने के कारण नहीं। जिसप्रकार प्रकाश में आते हुए घटपटादि पदार्थ दीपक के प्रकाशपने की प्रसिद्धि करते हैं, घटपटादि की नहीं, उसीप्रकार जानने में आते हुए रागादिकभाव आत्मा के ज्ञायकपने की ही प्रसिद्धि करते हैं, रागादिक की नहीं। कारण कि दीपक का प्रकाश दीपक से तन्मय है, इसलिए प्रकाश दीपक की प्रसिद्धि करता है। ज्ञान भी आत्मा से तन्मय होने से आत्मा को प्रकाशित करता है, रागादिक को नहीं। काम, क्रोधादि भाव ज्ञान में ज्ञात होते हैं, वे वास्तव में रागादिक को नहीं प्रकाशते; क्योंकि रागादि ज्ञान में तन्मय नहीं है किन्तु **रागादिक से संबंधित ज्ञान अपने ज्ञान को प्रकाशित करता है।** चैतन्य स्वयं प्रकाशस्वभावी होने से परसंबंधी अपने ज्ञान को प्रकाशता है, पर को नहीं प्रकाशता। पहले कहा कि आत्मा पर को प्रकाशित करता है, वह व्यवहार से बात की थी, किन्तु वास्तव में देखा जाय तो आत्मा परसंबंधी अपने ज्ञान को ही प्रकाशित करता है।

समस्त जगत की वस्तुयें ज्ञानप्रकाश में आ नहीं जाती और ज्ञानप्रकाश भी जगत की वस्तुओं में चला नहीं जाता। जगत की वस्तुयें हैं, उन संबंधी अपनी पर प्रकाशकता ज्ञानप्रकाश को ही प्रकाशित करती है। इससे सिद्ध हुआ कि बन्धस्वरूप रागादि का और प्रकाशस्वरूप ज्ञान का लक्षण भिन्न होने से उनमें परस्पर एकत्व नहीं है। उन दोनों के स्वलक्षण भिन्न-

भिन्न जानकर भगवती प्रज्ञाछैनी को उन दोनों की अंतरंगसंधि में पटकने से अर्थात् ज्ञान को आत्मा के सन्मुख करने से भिन्न चैतन्य के अतिन्द्रिय आनंद का अनुभव होता है।

।।४९।।

प्रश्न :- एक और कहते है कि सम्यग्दृष्टि परद्रव्य को भोगते हुए भी बँधता नहीं और दूसरी और कहते हैं कि जीव परद्रव्य को भोग नहीं सकता तो दोनों में सत्य किसे मानें ?

उत्तर :- ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी जीव परद्रव्य को नहीं भोग सकता, परन्तु अज्ञानी मानता है कि मैं परद्रव्यों को भोग सकता हूँ। अतः यहाँ अज्ञानी की भाषा में अर्थात् व्यवहार से कहते हैं कि परद्रव्यों को भोगते हुए भी ज्ञानी बँधता नहीं है, क्योंकि ज्ञानी को राग में एकत्व बुद्धि नहीं है। अतः परद्रव्य को भोगते हुए भी ज्ञानी को बंध नहीं होता - ऐसा कहते हैं।

ज्ञानी को चेतन द्रव्यों का घात होते हुए भी बंध नहीं होता - इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि स्वच्छंद होकर परजीव का घात होने में नुकसान नहीं। इसका आशय यह है कि जिसे राग की रुचि छूट गयी है और आत्मा के आनंद का भान और वेदन वर्तते हुए भी निर्बलता से राग आता है तथा चारित्र - दोष के निमित्त से होनेवाले चेतन के घात से जो अल्प बंध होता है, उसे गौण करके ज्ञानी को बंध नहीं होता - ऐसा कहा है, परन्तु जिसे राग की

रुचि है और मैं परद्रव्य को मार सकता हूँ, भोग सकता हूँ, ऐसी रुचिपूर्वक भाव में (राग से) एकत्वबुद्धि होने से हिंसाकृत बंध अवश्य होता है।

परसन्मुखता से होनेवाले परिणाम को एकत्व बुद्धि की अपेक्षा अध्यवसान कहकर बंध का कारण कहा है। पर में एकत्व बुद्धि हुए बिना जो राग होता है, उसे भी अध्यवसान कहते है, परन्तु उसमें मिथ्यात्व का बंध नहीं होता अल्पराग का बंध होता है, उसे गौण करके, बंध नहीं होता - ऐसा कहते है। स्वभावसन्मुख परिणाम को भी स्वभाव में एकत्वरूप होने से अध्यवसान कहते हैं, परन्तु वह अध्यवसान मोक्ष का ही कारण है।

जो देव-शास्त्र-गुरु और धर्म का स्वरूप समझे, उसे सम्यग्दर्शन होता ही है। ऐसे संस्कार लेकर कदाचित् अन्य भव में चला जाये तो वहाँ भी यह संस्कार फलेगा।

।।५०।।

प्रश्न :- भेदज्ञान करते समय किसकी मुख्यता करनी चाहिए? पर या पर्याय अथवा ज्ञेय किस से भेदज्ञान करना चाहिए?

उत्तर :- यह सब एक ही है। भेदज्ञान का अभ्यास करते समय विचार तो सभी आते है, परन्तु जोर अन्दर का आना चाहिए। **।।५१।।**

प्रश्न :- अज्ञानी जिज्ञासु जीव स्वभाव और विभाव के भेदज्ञान करने का प्रयत्न करता है, किन्तु स्वभाव को

देखे बिना स्वभाव से विभाव भिन्न कैसे होगा ?

उत्तर :- यदि पहले से ही जिज्ञासु जीव ने स्वभाव को देखा हो, तब तो भेदज्ञान कराने का प्रश्न ही नहीं उठता। जिज्ञासु पहले अनुमान से निर्णय करता है कि यह पर की ओर झुकने का भाव विभाव है, उस विभाव में आकुलता है-दुःख है और अन्तर्लक्षी भाव में शान्ति-सुख है। इसप्रकार वह प्रथम अनुमान से निश्चय करता है। **।।५२।।**

प्रश्न :- इस भेदज्ञान की भावना कब तक करनी चाहिए?

उत्तर :- जबतक ज्ञान ज्ञान में ही न ठहर जाय। तब तक अविच्छिन्नधारा से भेदज्ञान भाना। पर से भिन्न शुद्धात्मा की भावना करते-करते ज्ञान के ज्ञान में ठहरने पर रागादि से भिन्न होकर सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है। उसके पश्चात् भी पर से भिन्न - ऐसे शुद्धात्मा की सतत भावना करते-करते केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है, अतः केवलज्ञान होने तक अविच्छिन्नधारा से भेदज्ञान की भावना करना चाहिए। इस भेदज्ञान की भावना को रागरूप मत समझना, अपितु शुद्धात्मा के अनुभवरूप समझना। **।।५३।।**

प्रश्न :- एक ओर तो कहते हैं कि ज्ञानी का भोग निर्जरा का कारण है और दूसरी और कहते हैं कि शास्त्र की ओर जानेवाला लक्ष शुभराग होने से बंध का कारण है। यहाँ प्रश्न है कि जब शास्त्रलक्षी शुभराग भी बन्ध का कारण है तो फिर भोग भोगनेरूप अशुभराग निर्जरा का कारण

कैसे हो सकता है?

उत्तर :- ज्ञानी के ज्ञान का अचिन्त्य माहात्म्य बताने के लिए भोग को निर्जरा का कारण कहा है, भोग की पुष्टि के लिए नहीं। समयसार में एक जगह कहते हैं कि हे ज्ञानी ! तू परद्रव्य के भोगको भोग - ऐसा कहकर आचार्यदेव कहीं भोग भोगने की प्रेरणा नहीं दे रहे हैं, अपितु उनके कहने का आशय यह है कि इस जीव को परद्रव्य के कारण किंचित् भी बन्ध नहीं होता। शास्त्र में जहाँ जिस आशय से, अभिप्राय से कथन किया गया हो, वहाँ, उसी अभिप्राय से समझना चाहिए। ।।५४।।

प्रश्न :- उपयोग को कितना अन्दर ले जाने से आत्मा का दर्शन होता है - आत्मा प्राप्त होता है ?

उत्तर :- जो उपयोग बाहर में आता है, उसे अन्दर में ले जाना है। उपयोग को स्व में ले जाना ही अन्दर ले जाना कहा जाता है। उपयोग के स्व में ढलते ही आत्मा का दर्शन होता है। ।।५५।।

प्रश्न :- ज्ञेय-ज्ञायकपने का निर्दोष संबंध धर्मात्मा को होता है। कृपया समझाइए ?

उत्तर :- शरीर-मन-वाणी पर वस्तुयें हैं, उनसें मेरा कोई संबंध नहीं इसलिए उनकी अनुकूल क्रिया हो तो मुझे ठीक और प्रतिकूल क्रिया हो तो मुझे अठीक - ऐसे उनके प्रति मुझे कोई पक्षपात नहीं है, चैतन्य ज्योति ही मेरा स्वभाव है - इस प्रकार प्रथम अपने स्वभाव की पहिचान करना चाहिये।

ज्ञानी जानता है कि मैं तो ज्ञाता हूँ और ये शरीरादि सब पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं। मैं ज्ञाता और ये ज्ञेय - इसके अलावा अन्य कोई संबंध के अतिरिक्त, अन्य किसी अटपटे संबंध की कल्पना कभी स्वप्न में भी नहीं हो सकती, उसी प्रकार मैं चैतन्यमूर्ति आत्मा ज्ञायक हूँ और सारे पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं, इस ज्ञेय-ज्ञायक निर्दोष संबंध के अतिरिक्त अन्य कोई संबंध मेरा परद्रव्य के साथ स्वप्न में भी नहीं है, मेरा तो मात्र जानने मात्र का ही संबंध है।

जैसे अंधकार में कोई पुरुष किसी को भ्रम से अपनी स्त्री समझकर विकारपूर्ण भाव से उसके समीप गया, तत्काल विद्युत प्रकाश में उसका अवलोकन होते ही ज्ञान हुआ कि यह तो मेरी माता है, वहाँ तुरन्त ही उसकी वृत्ति पलट जाती है कि अरे ! यह तो मेरी जननी है। जननी की पहिचान होते ही विकारवृत्ति पलटी और माता-पुत्र के संबंधरूप निर्दोषवृत्ति जागृत हुई। वैसे ही अज्ञानदशा में परवस्तु को अपनी मानकर उसमें इष्ट-अनिष्ट कल्पना करता था और कर्त्ता-भोक्ता का भाव करके विकाररूप परिणमता था, किन्तु ज्ञानप्रकाश होने पर भान हुआ कि अहा ! मेरा तो ज्ञायकस्वभाव है और इन पदार्थों का ज्ञेयस्वभाव है - ऐसा निर्दोष ज्ञेय-ज्ञायक संबंध का भान होते ही धर्मी को विकारभाव का नाश होकर निर्दोष ज्ञायकभाव प्रगट होता है। अभी अस्थिरता का राग-द्वेष होने पर भी धर्मी की रुचि पलट गई है कि मैं तो चैतन्यस्वरूप सबका जाननेवाला हूँ, अन्य पदार्थो के साथ मेरा ज्ञेय-ज्ञायक

स्वभावरूप संबंध के अतिरिक्त कोई संबंध नहीं है।

।।५६।।

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। ज्ञान में कालभेद नहीं है, ज्ञान को भार (बोझ) नहीं है और ज्ञान में विकार नहीं है।

पचास वर्ष पहले की बात याद करना हो तो उसे याद करने के लिये ज्ञान में क्रम नहीं करना पड़ता। जैसे कापड़ के पचास थान नीचे-ऊपर जमाये गये हों और उनमें से नीचे का थान निकालना हो तो ऊपर के थान हटाने के बाद ही नीचे का थान निकलेगा, वैसे ज्ञान में पचास वर्ष पहले की बात याद करने के लिये बीच के उनचास वर्ष की बात को याद नहीं करना पड़ता। जिस प्रकार कल की बात याद आये उसीप्रकार पचास वर्ष पहले की बात भी एकदम याद आ जाती है। इसलिये ज्ञान में कालभेद नहीं होता; काल को खा जाये - ऐसा अरूपी ज्ञानमूर्ति आत्मा है।

ज्ञान अरूपी है इसलिये वह चाहे जितना बढ़ जाये, तथापि उसका भार मालूम नहीं होता। अनेक पुस्तकें पढ़ी इसलिये ज्ञान में भार नहीं बढ़ जाता। इस प्रकार ज्ञान को भार नहीं है, इसलिये वह अरूपी है।

ज्ञान शुद्ध अविकारी है; ज्ञान में विकार नहीं है। जवानी में काम-क्रोधादि विकारी भावों से भरी हुई, काले कोयले जैसी जिन्दगी बितायी हो, लेकिन फिर जब उसे ज्ञान में याद करे तब ज्ञान के साथ वह विकार नहीं हो आता; इसलिये ज्ञान

स्वयं शुद्ध अविकारी है। यदि विकारी हो तो पूर्व के विकार का ज्ञान करने से वह विकार भी साथ में हो जाना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता। आत्मा स्वयं शुद्ध अवस्था में रहकर विकार का ज्ञान कर सकता है। अवस्था में पर के अवलम्बन से क्षणिक विकार होता है उसे अविकारी स्वभाव के भान द्वारा सर्वथा नष्ट किया जा सकता है। जो नष्ट हो सके वह आत्मा का स्वभाव नहीं हो सकता; इसलिये विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है। **।।५७।।**

जरा-सी जमीन खोदने पर मोहरों से भरा घड़ा दिखे, तो यह कितना खुश होता है। दो कदम नीचे घड़ा हो तो जरा-सा खोदने पर घड़ा दिखता है, उसी प्रकार राग से एकताबुद्धि तोड़कर देखे तो आत्मा में सिर्फ हीरे ही भरे हैं। जैसे हीरे दिखने पर खुशी होती है, वैसे ही आत्मा में चैतन्य हीरे की खान दिखने पर आनन्द.....आनन्द हो जाता है।

।।५८।।

एक ओर भ्रमणा है और एक ओर भगवान है।

।।५९।।

राग से भिन्न हूँ.....राग से भिन्न हूँ.....स्वभाव से एकमेक हूँ.....स्वभाव से एकमेक हूँ.....ऐसे संस्कार तो डाल ! ऐसे दृढ़ संस्कारों में भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है। **।।६०।।**

एक ओर आनन्दधाम प्रभु अन्दर में विराजमान है और दूसरी ओर बाहर मृगजल के समान विषय हैं। अपने हित का विचार करके जहाँ रुचे, वहाँ जा ! **।।६१।।**

एक पर्याय में दूसरे सभी द्रव्यों की पर्यायों का अभाव है। एक पर्याय और दूसरे द्रव्यों की पर्यायों के बीच अभाव की वज्र शिला पड़ी है, तो एक पर्याय दूसरी पर्याय को क्या करे? मेरा कार्य कोई और नहीं करता तथा मैं पर का कुछ नहीं कर सकता अर्थात् पर के सामने देखने का क्या काम ? पर की आशा करना नहीं रहा। एक भी बात बैठ जाए तो बात खलास ! (भव का अन्त आ जाए)। ।।६२।।

जिसने जीवन में संयोग को वियोग के साथ भाया है (माना है) अनुकूलता में भी उसके वियोग की भावना भायी है, उसे वियोग के काल में खेद नहीं होगा। ।।६३।।

जैसे लकड़ी की अग्नि के ऊपर राख दिखाई देने पर भी अन्दर अग्नि जलती रहती है, अग्नि के ऊपर की छारीरूप राख अग्नि से भिन्न ही है। उसीप्रकार राग भी चैतन्य की छारी समान होने से चैतन्य से जुदा ही है। उष्णता और अग्नि एकरूप है, उसीप्रकार ज्ञान और आत्मा एकरूप है। ।।६४।।

श्रौता :- सुनना किस तरह चाहिए ?

पूज्य गुरुदेव :- आत्मा को राग से भिन्न करके सुनना चाहिए 'मैं सिद्ध हूँ' प्रथम ऐसा लक्ष्य करके सुनना चाहिए। भाई ! ये तो परमेश्वर की बातें हैं। परमेश्वर कैसे बनें - ऐसी बातें हैं। ।।६५।।

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

६

सम्यग्दर्शन

जो इस द्रव्यस्वभाव के गहरे संस्कार डालेगा उसका कार्य होना ही है। जिसप्रकार जिसे अप्रतिहतरूप से सम्यग्दर्शन होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व होना ही है, उसीप्रकार अंतर की साक्षी में मैं तो ज्ञायक.....ज्ञायक.....हूँ, रागादि वह मैं नहीं हूँ -ऐसे संस्कार डालेगा उसका कार्य (सम्यग्दर्शन) होना ही है। ।।७।।

वस्तु को पकड़े, उसका नाम आत्मा उपादेय है। धारणा में यह हेय है, यह उपादेय है - ऐसा करता रहे उसका नाम हेय-उपादेय नहीं है। लक्ष्य छोड़ देने का नाम हेय है और वस्तु को पकड़ना उसका नाम उपादेय है। आत्मा में एकाकार हो तब आत्मा उपादेय हुआ कहा जाता है। रागादि का लक्ष्य छूट जाना उसका नाम उसे हेय किया

कहा जाता है। ।।२।।

श्रोता :- प्रभु ! अंतर में कैसे जायें वह बतलाईये ?

उत्तर :- अंतर में उतरे तब अपने आत्मा की प्राप्ति होती है। कहीं पर में महिमा मानता हो - मिठास रह जाये, तो अंतर में नहीं जा सकता। प्रथम पर का माहात्म्य कम होना चाहिये तभी अंतर में जा सकता है। लेकिन अटकने के स्थान बहुत होने से यह जीव कहीं न कहीं अटक जाता है। किसी संयोग की, राग की, क्षयोपशम की - ऐसे किसी अन्य विषय की अधिकता रह जाती है तो अंतर में नहीं पहुँचा जाता। ।।३।।

श्रोता :- अज्ञानी जिज्ञासु जीव स्वभाव और विभाव का भेदज्ञान करने का प्रयत्न करता है, परन्तु स्वभाव को देखा नहीं है तो विभाव को उससे भिन्न कैसे कर सकेगा ?

पूज्य गुरुदेव :- यदि जिज्ञासु जीव ने पहले स्वभाव को देखा हो तो उसे भेदज्ञान कराना कहाँ रहा ? जिज्ञासु को पहले अनुमान से निर्णय करना है कि जो यह पर की ओर का भाव है वह विभाव है और अंतरोन्मुख होना वह स्वभाव है। परोन्मुखता के भाव में आकुलता और दुःख है तथा अन्तरोन्मुखता के भाव में शान्ति है-इसप्रकार पहले स्वभाव का अनुमान से निर्णय करना है।

एक वर्तमान समय का लक्ष्य यदि छोड़ दे तो वस्तु अकेली शुद्ध ही है। वस्तु है वह अन्य प्रकार से नहीं हो सकती। वर्तमान समय का लक्ष्य छोड़ने मात्र से आनंद की

लहर का अनुभव होता है। ।।४।।

भाई ! तू शरीर-वाणी-मन और रागको भूल जा, वे तेरे में नहीं हैं। अरे ! तेरी निर्मल पर्याय के प्रगट होने में द्रव्य-गुणकी अपेक्षा नहीं है, पूर्व पर्याय के व्यय की अपेक्षा नहीं है, तब व्यवहार से होता है यह बात कहाँ रही ? पर्याय का ऐसा स्वतंत्र सामर्थ्य है। पर्याय स्वतंत्र ही होती है ऐसा निर्णय करने पर उसका लक्ष्य कहाँ जायेगा ? कि द्रव्य की ओर ही लक्ष्य जायेगा और उसका नाम ही पुरुषार्थ है। द्रव्य की ओर लक्ष्य जाने से ज्ञान में द्रव्य का ज्ञान आता है परन्तु द्रव्य नहीं आता। जिसे सत् का निर्णय हो उसकी दृष्टि द्रव्य पर ही जाती है। यही करना है, शेष सब तो धूल है - व्यर्थ है। ।।५।।

राग होने पर भी ज्ञान की पर्याय राग से परान्मुख होकर अंतर में ज्ञायकोन्मुख हो वही बस है ! पर्याय ने त्रैकालिक का स्वीकार कर लिया। पहले पर्याय पर्याय का स्वीकार करती थी तब तक यह जीव मिथ्यादृष्टि था, अब पर्याय ने द्रव्य का स्वीकार किया, इसलिये यह सम्यग्दृष्टि हो गया। यह तो भीतर से आई हुई वस्तु है। दुनिया कुछ भी कहे परन्तु वस्तु पलटेगी नहीं, वस्तु तो वस्तु रूप ही रहेगी। ।।६।।

आत्मजिज्ञासु जीव प्रश्न करता है कि प्रभो ! आपने जो अबद्धस्पृष्टादि भाववाला आत्मा कहा, उसका अनुभव कैसे हो सकता है ? क्योंकि हमें तो बद्धस्पृष्टत्व, अन्यत्व, अनियतत्व,

विशेषत्व तथा संयुक्तत्व आदि भावोंरूप ही आत्मा दिखाई देता है। तब आचार्यदेव कहते हैं कि बद्धस्पृष्टादि भाव ऊपर-ऊपर तैरते भाव हैं, स्वभाव में प्रवेश नहीं पाते, विनाशीक हैं, इसलिये अभूतार्थ हैं। वे भाव पर्याय में ही हैं, त्रैकालिक में वे नहीं हैं, वे स्थाई नहीं हैं, इसलिये असत्यार्थ होने से भूतार्थस्वभाव के आश्रय से अबद्ध-अस्पृष्टत्वादि भावस्वरूप आत्मा की अनुभूति अवश्य हो सकती है। ।।७।।

भगवान निज ज्ञायकप्रभु जो स्वतःसिद्ध है वह तो सुगम ही होता है न ? उसे प्राप्त करने में मात्र दृष्टि का परिवर्तन होना चाहिये। जिसे रागकी रुचि है उसे सारे संसार की रुचि है। राग का कर्त्ता हुआ उसने `समस्त विश्व का कर्त्ता हूँ' - ऐसा माना। अहा ! वह मान्यता परसंग का आश्रय करने से हुई है। परसंग का आश्रय छोड़कर स्वयं अपने असंगरूप से स्वतंत्रतापूर्वक पृथक् रह सकता है। आत्मा असंग वस्तु है उसका संग करना, रागादि तो अपनी मूल वस्तु में है ही नहीं, इसलिये उनका आश्रय छोड़ना, अपने असंग स्वभाव को प्राप्त करने में कठिनाई कैसी ? वह तो सुगम ही होती है। ।।८।।

आत्मा और राग की सन्धि अति सूक्ष्म है, अत्यंत दुर्लभ है, दुर्लभ है तथापि अशक्य नहीं है। ज्ञान के उपयोग को अति सूक्ष्म करने से लक्ष्य में आ सकती है। पंच महाव्रत के परिणाम अथवा शुक्ललेश्या के कषाय की मन्दता के परिणाम वे अति सूक्ष्म या दुर्लभ नहीं हैं किन्तु आत्मा अति सूक्ष्म

है, इसलिये उपयोग को अति सूक्ष्म करने से आत्मा जानने में आता है। ।।९।।

अंतर में दृष्टि लगाना ही आत्मा का आहार है। श्रद्धा-ज्ञान का बारम्बार अभ्यास करना ही आत्मा का आहार है। ।।१०।।

जैसा भगवान का स्वभाव है वैसा ही मेरा है। परन्तु उसे विश्वास की सराण पर चढ़ाना, श्रद्धा में लेना, उसके अस्तित्वमें `यह मैं हूँ' - ऐसी प्रतीति करना ! अहो ! वह सब निर्विकल्प दृष्टि हुए बिना होता ही नहीं। ।।११।।

भाई ! तेरी परमेश्वरता का आधार तेरा द्रव्य है तुझे परमेश्वर होना हो तो अपनी परमेश्वरता को अपने अंदर में खोज़। ।।१२।।

`हे आत्मा !' यदि तुझे मलिनता के भाव से छूटकर-मलिन पर्याय जो मोह, राग, द्वेष एवं दुःखरूप है उससे छूटकर-सम्पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मदशा प्राप्त करना हो, मोक्ष की इच्छा हो, विभाव का व्यय और परमानन्दरूपी मोक्षदशा का उपाय करना हो तो निर्विकार एवं निर्विकल्प ऐसे निज चैतन्य के अभेद ध्रुवस्वरूप को ग्रहण कर। आत्मवस्तु-नित्यवस्तु-जो कि अंतर में ज्ञायकरूप से विद्यमान है, जिसमें पर्याय तथा गुण-गुणी के भेद भी नहीं हैं, जो ज्ञान, आनन्दादि अनंत ध्रुव गुणों की एकता स्वरूप अभेद पदार्थ हैं, उसे अंतर्मुख रुचि करके ग्रहण कर, उस पर दृष्टि लगा दे। राग के उपर दृष्टि वह तो मलिनता है। मलिनता टिकती नहीं है, अच्छी

भी नहीं लगती, इसलिये वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, भगवान आत्मा जो कि चैतन्य प्रकाश का प्रवाह है, शाश्वत स्थाई और रुचती वस्तु है, ज्ञायक के दिव्य तेज से सदा प्रकाशित है उसे ग्रहण कर। निर्मलानन्द ज्ञायकप्रभु की दृष्टि कर, उसे ध्येय बना दे, अपनी वर्तमान श्रद्धा पर्याय का विषय बना दे उसका अंतर से आदर एवं आश्रय कर तो तेरी अनादिकालीन विभावदशा दुःख दशा छूट जायेगी और मुक्तदशा प्रगट होगी। ।।१३।।

ज्ञानके क्षयोपशमका महत्व नहीं, परन्तु अनुभूतिका महत्व है। इसलिए कहते हैं कि आत्माका अनुलक्षण कर के आत्माके स्वादका अनुभव होना - वही अनुभूति है और बारह अंगमें भी अनुभूतिका ही वर्णन किया गया है, अनुभूति करनेके लिये कहा है। अनाकुल ज्ञान और अनाकुल आनन्दका अनुभव करना ऐसा बारह अंगमें कहा है। शुद्ध आत्माकी दृष्टि कर स्थिरता करनी - ऐसा उसमें कहा है। बारह अंगसे विशेष श्रुतज्ञान नहीं होता, उसमें चारों ही अनुयोगोंका ज्ञान आता है - ऐसे उत्कृष्ट बारह अंगका ज्ञान भी मोक्षमार्ग नहीं है। बारह अंगके ज्ञाताको सम्यग्दर्शन होता ही है - सम्यग्दर्शन बिना बारह अंगका ज्ञान होता ही नहीं, पर ऐसा क्षयोपशम ज्ञान भी मोक्षमार्ग नहीं, लेकिन अनुभूति ही मोक्षमार्ग है। इतना अधिक (क्षयोपशम) ज्ञान हुआ, इसलिये मोक्षमार्ग बढ़ गया - ऐसा नहीं है। ।।१४।।

प्रश्न :- सम्यग्दृष्टिको शुभ भाव आते हैं,

वह उनमें उसी समय उदासीन है कि शुभभावसे हटकर आत्मोन्मुख होने पर उदासीन है ?

उत्तर :- सम्यग्दृष्टिको शुभभाव आते हैं - वह उनमें उसी समय उदासीन है और उनसे हटकर आत्मोन्मुख होनेपर तो वीतरागता ही है। अतः वह शुभ भावके समय भी उदासीन है। ।।१५।।

प्रश्न :- सम्यग्दर्शन होने के बाद वास्तवमें ऐसा ख्याल आता है न कि विकार भाव दुःखरुप हैं ?

उत्तर :- सम्यग्दर्शन होने के बाद ही विकारका दुःख यथार्थरूपसे भासित होता है, परन्तु उसके पूर्व भी जिज्ञासुको इतना तो ख्यालमें आ जाता है कि पर की ओर झुकनेवाली वृत्तिमें आकुलता होती है, जिस कारण वह विकारसे हट कर स्वभावकी ओर ढ़लता है। ।।१६।।

प्रश्न :- सम्यग्दर्शन होने के बाद ही तत्वकी ये सब बातें समझमें आती हैं, या पहले भी ?

उत्तर :- सम्यग्दर्शन होनेके पूर्व प्रयोजनभूत नवतत्वकी सभी बातें लक्ष्यमें आ जाती हैं, बादमें अनुभव होता है। वस्तुका स्वरूप क्या है, मुनिपना व केवलज्ञान क्या है, मैं कौन हूँ आदि नवतत्वके भिन्न-भिन्न स्वरूप जिस रूपमें हैं उसी रूपमें पहले लक्ष्यमें आते हैं, बादमें अनुभव होता है। ।।१७।।

दृष्टि स्वभावरुप परिणमित हुई कि हुई, फिर उसका स्मरण क्या करना ? रुचिका तो परिणमन हुआ सो हुआ, वह तो सदा ही रहनेवाला है। 'मैं निःशंक हूँ' इस भावका

स्मरण नहीं करना पड़ता। (उपयोग) शुभाशुभमें हो या आत्म-अनुभवमें (दृष्टिका) सम्यक्परिणमन तो जैसा है वैसा ही रहता है। ।।१८।।

धर्मीका चित्त आत्माके सिवा अन्य कहीं नहीं रमता। वे संसारमें सब कुछ ऊपरी नजरसे ही देखते हैं, पर उनका चित्त तो कहीं भी नहीं रमता। मक्खीका चित्त शक्करके स्वादमें इतना आसक्त रहता है कि पंखों पर दबाव होने पर भी वह वहाँसे हटती नहीं। वैसे ही धर्मीका चित्त आत्मामें रमा रहता है। प्रतिकूलता आने पर भी-बाहरी दबाव आने पर भी, आत्मासे उनका चित्त नहीं हटता। दुनिया को भले ही धर्मी मूर्ख लगे-पागल लगे। ।।१९।।

सम्यक्त्वी की पूरी दुनियासे रुचि उड़ गई है, उसे एक आत्मामें ही रुचि है। वह एक आत्माको ही विश्राम-स्थल मानता है। एक आत्माकी ओर ही उसकी परिणति रह-रह कर जाती है। ।।२०।।

अहो ! सम्यग्दृष्टि जीवको छः छः खंडके राज्यमें संलग्न होने पर भी, ज्ञानमें तनिक भी ऐसी मचक नहीं आती कि ये मेरे हैं, और छियानवै हजार अप्सरा जैसी रानियोंके वृन्दमें रहने पर भी उनमें तनिक भी सुखबुद्धि नहीं होती। अरे ! कोई नरककी भीषण वेदनामें पड़ा हो तो भी अतीन्द्रिय आनन्दके वेदनकी अधिकता नहीं छूटती है। इस सम्यग्दर्शनका क्या माहात्म्य है - जगतके लिए इस मर्मको बाह्य दृष्टिसे समझना बहुत कठिन है। ।।२१।।

सम्यग्दर्शनका लक्षण क्या कहा ? कि भेद ज्ञानकी प्रवीणतासे आत्मज्ञान द्वारा आत्माको जैसा जाना है, वैसा ही प्रतीतिमें आना - वही सम्यग्दर्शनका लक्षण है। ज्ञानमें पूर्णानन्द अभेद-अखण्ड आत्माका ज्ञान होने पर जैसा आत्मा जाना वैसी ही प्रतीति होने पर सम्यक्श्रद्धान प्रकाशित हो उठता है। ।।२२।।

प्रश्न :- जब आत्मा - वस्तु अव्यक्त है तब वह कैसे जाननेमें आए ?

उत्तर :- वर्तमान वर्तती पर्याय व्यक्त है, प्रकट है - वह पर्याय कहाँसे आती है ? कोई वस्तु है जिसमेंसे आती है या शून्यमेंसे आती है ? जो तरंग है वह जलमेंसे आती है या शून्यमेंसे आती है ? वेसै ही पर्याय है वह शून्यमेंसे नहीं आती ; परन्तु अन्तर वस्तु जो अव्यक्त-शक्तिरूप है, उसमेंसे आती है। व्यक्त पर्याय अव्यक्त आत्मशक्तिको प्रसिद्ध करती है - बतलाती है। ।।२३।।

प्रश्न :- निश्चय (शुद्ध परिणमन) के साथ जो उचित राग (भूमिका अनुसारका राग) वर्तता है, उसे क्रोध कहा जाए क्या ?

उत्तर :- नहीं, यहाँ समयसार गाथा ६९-७०-७१ में कहा जिसे आत्म-स्वभावकी रुचि नहीं -- अनादर है, उसके रागभावको क्रोध कहा है, तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व सहितके रागादि-भावको क्रोध बतलाया है। ज्ञानीको अपनी अस्थिरतारुप रागका ज्ञान होता है। ज्ञानके परिणमनवाले ज्ञानीको आनन्दरूप

आत्मा रूचता है - आत्माका एहसास होता है, अतः उसको रागकी रुचिरूप क्रोध होता ही नहीं - जिससे क्रोध (स्व-रूप) मालूम नहीं होता। अज्ञानीको दुःखरुपभाव -रागभाव रुचता है, आनन्दरूपभाव नहीं रूचता - जिससे उसे क्रोधादि ही मालुम होते हैं, आत्माका एहसास नहीं होता। आत्मा अतीन्द्रिय आनंद स्वरूप है उसकी जिसे रुचि नहीं व पुण्यके परिणामकी रुचि है - उसे आत्माका अनादर है, जिससे उसे स्वरूप के प्रति क्रोध कहा है। ।।२४।।

प्रश्न :- चौथे गुणस्थानमें अनुभव होता है अथवा केवल श्रद्धा ही होती है ?

उत्तर :- चौथे गुणस्थानमें आनन्द अनुभव सहित श्रद्धा होती है।

प्रश्न :- तत्वार्थ श्रद्धानको सम्यक् कहा है, चारित्रको नहीं कहा ?

उत्तर :- चारित्रकी पर्याय तो मुख्यरूपसे पाँचवें-छट्ठे गुणस्थानसे ही गिनी जाती है, चौथे (गुणस्थान) वालेको तो स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट हुआ है। ।।२५।।

प्रश्न :- धर्मी साधक-जीव रागका वेदक है अथवा ज्ञाता है ?

उत्तर :- साधक जीवका ज्ञान रागमें जाए तब दुःखका वेदन होता है; ज्ञान, ज्ञानमें ही रहे तो सुखका वेदन करता है। ।।२६।।

जब आत्मा निसर्गज अथवा अधिगमज सम्यग्ज्ञान-

ज्योति प्रकट करता है तथा परसमयको त्याग कर स्वसमयको अंगीकार करता है तब वह अवश्य ही कर्म-बंधनसे रहित होता है। धर्म-प्राप्तिके समय सच्चे देव या गुरुकी प्रत्यक्ष विद्यमानता हो तो उस समय प्राप्त सम्यग्दर्शन अधिगमज कहलाता है; तथा उसकी विद्यमानता न हो, परन्तु पूर्वमें ज्ञानीसे देशना झेली हो व उस समय तो सम्यग्दर्शन प्राप्त न हो, पर बादमें उन पूर्व-संस्कारोंके निमित्तसे प्राप्त सम्यग्दर्शनको निसर्गज - सम्यग्दर्शन कहते हैं। ज्ञानी किसी भी भवमें न मिले हों व अपनी सूझसे ही सम्यक्त्व प्राप्त कर लेवे -- ऐसा निसर्गजका अर्थ नहीं है। निसर्गज तो यही सूचित करता है कि धर्म प्राप्त करने वाले जीवको उस भवमें ज्ञानीका सामीप्य नहीं है। ज्ञानी के बिना अपनी योग्यतासे ही धर्म प्राप्त हो जाए - ऐसा नहीं होता; तथा वह भी नहीं होता कि अपनी योग्यता हो व ज्ञानी न मिले। दोनों ही प्रकारके सम्यग्दर्शन में पुरुषार्थ तो समान है। ।।२७।।

स्वर्गमें रत्नोंके ढ़ेर मिलें, तो उससे जीवका कुछ भी कल्याण नहीं है। सम्यग्दर्शन रत्न अपूर्व कल्याणकारी है। सम्यग्दर्शन सर्व कल्याणका मूल है। उस सम्यग्दर्शन बिना जो कुछ भी करो, वह राख पर लेपके समान है। सम्यग्दृष्टि जीव लक्ष्मी, पुत्र आदिके लिए किसी शीतला आदिको नहीं मानता है। लोकमें मन्त्र-तन्त्र-औषध आदि हैं, वे तो पुण्य होनेसे ही फलित होते हैं; परन्तु यह सम्यग्दर्शनरत्न, सर्व रत्नोंमें ऐसा श्रेष्ठ रत्न है कि देवगण भी उसकी महिमा करते हैं। ।।२८।।

जब निज आत्माको शुद्धस्वरूप जाने, राग-द्वेषादिको दुःखरूप जाने उन भावोंसे अपना घात समझे; तब कषायभावोंके अभावसे अपनी दया माने तथा अन्यको दुःख हो वैसे भाव न होने दे - सो परकी दया है। इस प्रकार अहिंसाको धर्म जाने, हिंसाको अधर्म माने व ऐसा श्रद्धान होना ही सम्यक्त्व है। ।।२९।।

प्रथम स्वरूप-सन्मुख होकर निर्विकल्प-अनुभूति होती है, आनन्दका वेदन होता है, तभी यथार्थ सम्यक्दर्शन हुआ कहलाए। इसके बिना यथार्थ प्रतीति नहीं कहलाती। परन्तु अनुभूति के पूर्व तत्वविचार पूर्वक दृढ़ निर्णय करनेके कालमें यदि निर्णय में ही भूल हो, तो यथार्थ अनुभूति कहाँसे हो? ।।३०।।

केवल विकल्प से ही तत्वविचार किया करे, वैसा जीव भी सम्यक्त्व नहीं पाता। अंतरमें चैतन्यस्वभावकी महिमा कर उसकी निर्विकल्प अनुभूति करना ही सम्यग्दर्शन है। ।।३१।।

देखो ! सम्यक्त्वकी महिमा, कि जिसके बलसे भोग भी निज गुणका कुछ नहीं कर सकते। भगवान सत् परमेश्वर है, उसका स्वीकार करनेसे भोग भी अपने (वस्तु) गुणोंका कुछ नहीं कर सकते अर्थात् वे विशेष बंध नहीं कर सकते। ज्ञानी, (पुरुषार्थवश) अस्थिरतारूपी रागका स्वामी नहीं होता, वह तो त्रिकाली स्वभावका स्वामी होता है। जो इस प्रकार नहीं मानता वह बाह्यदृष्टिवंत बहिरात्मा है। अंतर्दृष्टिसे अवलोकन करनेवाला

अन्तरात्मा है। ।।३२।।

स्वभाव की ओर झूके हुए ज्ञान ने ही स्वभावको उपादेय माना है तथा रागकी रुचि छूटना ही रागकी हेयता है। स्वभाव, उपादेय व राग हेय...ऐसा विकल्प करना कोई कार्यकारी नहीं है। अज्ञानी तो विकल्पका नाश करनेका उद्यम ही नहीं करता। अज्ञानी, विकार विमुखता व स्वभाव-सन्मुखता ही नहीं करता। रागादि-परिणाम हेय हैं... अज्ञानीके ऐसा श्रद्धान संभवित ही नहीं है। आत्मा उपादेय है, संवर-निर्जरा कथंचित् उपादेय हैं तथा पुण्य-पाप, आस्रव-बंध हेय हैं... ऐसी प्रतीति बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। यही जीव-अजीवादि सातों तत्वोंके श्रद्धानका प्रयोजन है। ।।३३।।

प्रश्न :- सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण क्या है ?

उत्तर :- स्व-पर का यथार्थ भेदज्ञान सदा सम्यक्त्व के साथ ही होता है तथा यह दोनों पर्यायें एक ही स्व-द्रव्य के आश्रय से होती हैं, इसलिए भेदविज्ञान सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण है। गुणभेद की अपेक्षा से सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण निर्विकल्प प्रतीति है और सम्यक्त्व का अनात्मभूत लक्षण भेदविज्ञान है - ऐसा भी कहा जाता है। किन्तु निर्विकल्प अनुभूति को सम्यक्त्व का लक्षण नहीं कहा, क्योंकि वह सदा टिकी नहीं रहती। इतनी बात अवश्य है कि सम्यक्त्व के उत्पत्तिकाल में अर्थात् प्रकट होते समय निर्विकल्प अनुभूति अवश्यमेव होती है, इसलिए उसे 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' अर्थात् सम्यक्त्व प्रकट होने का लक्षण कह सकते हैं।

अनुभूति सम्यक्त्व के सद्भाव को प्रसिद्ध अवश्य करती हैं, परन्तु जिस समय अनुभूति नहीं होती है, उस समय भी सम्यक्त्वीके सम्यक्त्व का सद्भाव तो रहता ही है, इसलिए अनुभूति को सम्यक्त्व के लक्षण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। लक्षण तो ऐसा होना चाहिए कि जो लक्ष्य के साथ सदैव रहे और जहाँ लक्षण न हो, वहाँ लक्ष्य भी न हो। ।।३४।।

प्रश्न :- अनुभूति को सम्यग्दर्शन का लक्षण कह सकते हैं या नहीं ?

उत्तर :- अनुभूति को लक्षण कहा है लेकिन वास्तव में तो वह ज्ञान की पर्याय है, सही लक्षण तो प्रतीति ही है। केवल आत्मा की प्रतीति - श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) का लक्षण है। ।।३५।।

प्रश्न :- सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए पात्रता कैसी होनी चाहिए ?

उत्तर :- पर्याय सीधी द्रव्य को पकड़े, वह सम्यग्दर्शन की पात्रता है। तदतिरिक्त व्यवहार पात्रता तो अनेक प्रकार की कही जाती है। मूल पात्रता तो दृष्टि द्रव्य को पकड़कर स्वानुभव करे, वही है। ।।३६।।

प्रश्न :- सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाले की व्यवहार योग्यता कैसी होती है ?

उत्तर :- निमित्त से अथवा राग से सम्यग्दर्शन नहीं होता, पर्याय भेद के आश्रय से भी नहीं होता, अन्दर में ढलने से

ही सम्यग्दर्शन होता है, अन्य किसी विधि से नहीं, इस प्रकार का दृढ़ श्रद्धा-ज्ञान होना, वही सम्यग्दर्शन होने वाले की योग्यता है। ।।३७।।

प्रश्न :- सम्यग्दर्शन के लिए खास प्रकार की पात्रता का लक्षण क्या है ?

उत्तर :- जिसको अपने आत्मा का हित करने के लिए अन्दर से वास्तविक लगन हो, आत्मा को प्राप्त करने की तड़फड़ाहट हो, दरकार हो, वास्तविक छटपटाहट हो, वह कही भी अटके बिना रुके बिना अपना कार्य करेगा ही। ।।३८।।

प्रश्न :- सम्यग्दर्शन न होने में भावज्ञान की भूल है अथवा आगमज्ञान की ?

उत्तर :- अपनी भूल है। यह जीव स्व तरफ नहीं झुककर, पर तरफ रुकता है-यही भूल है। विद्यमान शक्ति को अविद्यमान कर दिया, यही अपनी भूल है। त्रिकाली वर्तमान शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार कर ले देख ले तो भूल टल जाय। ।।३९।।

प्रश्न :- तत्वविचार तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का निमित्त है। उसका मूल साधन क्या है ?

उत्तर :- मूल साधन अन्दर में आत्मा है, वहाँ दृष्टि का जोर जावे और 'मैं एकदम पूर्ण परमात्मा ही हूँ, - ऐसा विश्वास आवे, जोर आवे और दृष्टि अन्तर में ढले तब सम्यग्दर्शन होता है। उससे प्रथम तत्व का विचार होता है, उसकी भी

रुचि छोड़कर जब अन्दर में जाता है तब उस विचार को निमित्त कहा जाता है। ।।४०।।

प्रश्न :- सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि क्या है?

उत्तर :- `पर का कर्त्ता आत्मा नहीं, राग का भी कर्त्ता नहीं, राग से भिन्न ज्ञायक मूर्ति हूँ' - ऐसी अन्तर में प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि है। ऐसा समय मिला है जिसमें आत्मा को राग से भिन्न कर देना ही कर्तव्य है। अवसर चूकना बुद्धिमानी नहीं। ।।४१।।

प्रश्न :- त्रिकाली ध्रुव द्रव्यदृष्टि में आया-ऐसा कब कहा जाय ? वेदन में भी द्रव्य आता है क्या ?

उत्तर :- चैतन्य त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मद्रव्य दृष्टि में आने पर नियम से पर्याय में आनन्द का वेदन आता है। इसी पर्याय को अलिंगग्रहण के २०वें बोल में आत्मा कहा है। त्रिकाली ध्रुव भगवान के उपर दृष्टि पड़ने पर आनंद का अनुभव होता है, तभी द्रव्यदृष्टि हुई कही जाती है। यदि आनंद का वेदन न हो तो उसकी दृष्टि द्रव्य पर गई ही नही। जिसकी दृष्टि द्रव्य के ऊपर जावे, उसको अनादिकालीन राग का वेदन टलकर आनंद का वेदन पर्याय में होगा। **ऐसी दशा में उसकी दृष्टि में द्रव्य आया है, तथापि वेदन में द्रव्य आता नहीं, क्योंकि पर्याय द्रव्य का स्पर्श करती नही।** प्रभु की पर्याय में प्रभु का स्वीकार होने पर उस पर्याय में प्रभु का ज्ञान आता है, किन्तु पर्याय में प्रभु का वेदन नहीं आता। यदि वेदन में द्रव्य आवे तो द्रव्य का नाश हो जाय,

परन्तु द्रव्य तो त्रिकाल टिकने वाला है, इसलिए वह पर्याय में आता नहीं अर्थात् पर्याय सामान्यद्रव्य को स्पर्श नहीं करती - ऐसा कहा। ।।४२।।

प्रश्न :- दृष्टि के विषय में वर्तमान पर्याय शामिल है या नहीं?

उत्तर :- दृष्टि के विषय में मात्र ध्रुवद्रव्य ही आता हैं पर्याय तो द्रव्य को विषय करती है, परन्तु वह ध्रुव में शामिल नहीं होती, क्योंकि वह विषय करनेवाली है। विषय और विषयी भिन्न-भिन्न हैं। ।।४३।।

प्रश्न :- सम्यग्दर्शन का विषय क्या है ?

उत्तर :- समयसार की १३वीं गाथा में कहा है कि नवतत्वरूप पर्यायों में अन्वयरूप से विद्यमान भूतार्थ एकरूप सामान्य ध्रुव वह सम्यग्दर्शन का विषय है। पंचाध्यायी (अध्याय २) में भी कहा है कि भेदरूप नवतत्वों में सामान्यरूप से विद्यमान अर्थात् ध्रुवरूप से विद्यमान वह जीव का शुद्ध भूतार्थ स्वरूप है। इस प्रकार भेदरूप नवतत्वों से भिन्न शुद्ध जीव को बतलाकर उसे सम्यग्दर्शन का विषय अर्थात् ध्येयरूप बतलाया है।

जीव की श्रद्धापर्याय ध्येयभूत सामान्य ध्रुव द्रव्यस्वभाव की ओर झुकती है तभी सम्यग्दर्शन एवं निर्विकल्प स्वानुभव होता है। उस समय दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि सर्व गुणों के परिणाम (पर्याय) स्वभाव की ओर झुकते हैं, मात्र श्रद्धा-ज्ञान के ही परिणाम झुकते हैं ऐसा नहीं है। `.....वहाँ सर्व परिणाम उस

रूप में एकाग्र होकर प्रवर्तते हैं,.....'। (पं. टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी)। ।।४४।।

प्रश्न :- ध्रुव स्वभाव के साथ निर्मल पर्याय को अभेद करके दृष्टि का विषय मानने में क्या आपत्ति है ?

उत्तर :- ध्रुव द्रव्यस्वभाव के साथ निर्मल पर्याय को एकमेक करने से दृष्टि का विषय होता है - ऐसा माननेवाले व्यवहार से निश्चय होना माननेवालों की भाँति ही मिथ्यादृष्टि हैं, उनका जोर पर्याय पर है, ध्रुव स्वभाव पर नहीं है।

सम्यग्दर्शन के विषय में द्रव्य के साथ उत्पादरूप निर्मल पर्याय को साथ लेने से वह निश्चयनय का विषय न रहकर प्रमाण का विषय हो जाता है, और **प्रमाण स्वयं सद्भूत व्यवहारनय का विषय है।** निश्चयनय का विषय अभेद एकरूप द्रव्य है, प्रमाण की भाँति उभय अंशग्राही नहीं है। यदि पर्याय को द्रव्य के साथ एकमेक किया जाये तो निश्चयनय का विषय जो त्रिकाली सामान्य है वह नहीं रहता, परन्तु प्रमाण का विषय हो जाने से दृष्टि में भूल है, विपरीतता है।

अनित्य नित्य को जानता है, पर्याय द्रव्य को जानती है, पर्यायरूप व्यवहार है वह निश्चयरूप ध्रुवद्रव्यको जानता है, भेद है वह अभेद द्रव्य को जानता है, पर्याय वह जाननेवाले अर्थात विषयी है और त्रिकाली ध्रुवद्रव्य वह विषय है। यदि द्रव्य के साथ निर्मल पर्याय को मिलाकर निश्चयनय का विषय कहा जाये तो विषय करनेवाली पर्याय तो कोई भिन्न नहीं रही। अतः पर्याय को विषयकर्ता के रूप में द्रव्य से भिन्न लिया

जाये तभी विषय-विषयी दो भाव सिद्ध हो सकते हैं, इससे अन्यथा मानने से महाविपरीतता होती है।

श्रुतज्ञान की पर्याय वह प्रमाणज्ञान है। प्रमाणज्ञान स्वयं पर्याय होने से व्यवहार है। वीतरागी पर्याय स्वयं व्यवहार है, परन्तु उसने त्रिकाली द्रव्यरूप निश्चय का आश्रय लिया होने से उस निर्मल पर्याय को निश्चयनय कहा है, परन्तु वह पर्याय होने से व्यवहार ही है।

शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है। पर का लक्ष छोड़कर राग का लक्ष्य छोड़कर पर्याय का लक्ष छोड़कर त्रिकाली द्रव्यका लक्ष्य करे तब वीतरागता प्रगट होती है। यदि त्रिकाली द्रव्यरूप ध्येय में पर्याय को साथ ले तो वह बात नहीं रहती।

।।४५।।

प्रश्न :- इसका कोई शास्त्रीय आधार भी है क्या ?

उत्तर :- समयसार की ४९वीं गाथा की टीका में त्रिकाली सामान्य ध्रुव द्रव्य से निर्मल पर्याय को भिन्न बतलाते हुए कहा है कि व्यक्तपना तथा अव्यक्तपना एकमेक-मिश्रित रूप से प्रतिभासित होने पर भी वह व्यक्तपने को स्पर्श नहीं करता, इसलिये अव्यक्त है। इस 'अव्यक्त विशेषण से त्रिकाली ध्रुव द्रव्य कहा है, उसके आश्रय से निर्मल पर्याय प्रकट होती है, तथापि वह त्रिकाली ध्रुवद्रव्य व्यक्त ऐसी निर्मल पर्यायको स्पर्श नहीं करता।' इसी अपेक्षा से त्रिकाली ध्रुव द्रव्य से निर्मल पर्याय को भिन्न कहा है।

प्रवचनसार गाथा १७२ में अलिंगग्रहण के १८वें बोल

में कहा है कि आत्मा में अनंत गुण होने पर भी उन गुणों के भेद को आत्मा स्पर्श नहीं करता, क्योंकि गुणों के भेद को लक्ष में लेने से विकल्प उठता है, निर्विकल्पता नहीं होती। शुद्ध निश्चयनय से एकरूप अभेद सामान्य ध्रुवद्रव्य को लक्ष में लेने से विकल्प टूटकर निर्विकल्पता होती है। इसलिये आत्मा गुणों के भेद को स्पर्श नहीं करता - ऐसा कहा है। ओर १९वें बोल में आत्मा पर्याय के भेद को स्पर्श नहीं करता, अर्थात् जिसप्रकार ध्रुव में गुण है, तथापि उनके भेद को स्पर्श नहीं करता उसी प्रकार ध्रुव में पर्यायें हैं और उन्हें स्पर्श नहीं करता - ऐसा नहीं कहना है, परन्तु ध्रुव सामान्य से पर्याय भिन्न ही है - ऐसे पर्याय के भेद को आत्मा स्पर्श नहीं करता, ऐसा कहकर निश्चयनय के विषय में अकेला सामान्यद्रव्य ही आता है - ऐसा बतलाया है। **।।४६।।**

प्रश्न :- समयसार में शुद्धनय का अवलम्बन लेने के लिए कहा है, परन्तु शुद्धनय तो ज्ञान का अंश है, पर्याय है, क्या उस अंश के - पर्याय के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन होगा ?

उत्तर :- शुद्धनय का अवलम्बन वास्तव में कब हुआ कहा जाय ? अकेले अंश का भेद करके उसके ही अवलम्बन में जो अटका है, उसको तो शुद्धनय है ही नहीं। ज्ञान के अंश को अन्तर में लगाकर जिसने त्रिकाली द्रव्य के साथ अभेदता की है, उसको ही शुद्धनय होता है। ऐसी अभेद दृष्टि की, तब शुद्धनय का अवलम्बन लिया - ऐसा कहा

जाता है। `शुद्धनय का अवलम्बन'-ऐसा कहने पर उसमें भी द्रव्य-पर्याय की अभेदता की ही बात आती है, **परिणति अन्तर्मुख होकर द्रव्य में अभेद होने पर जो अनुभव हुआ - उसका नाम `शुद्धनय' का अवलम्बन है, उसमें द्रव्यपर्याय के भेद का अवलम्बन नहीं है।** यद्यपि शुद्धनय ज्ञान का ही अंश है, पर्याय है, परन्तु वह शुद्धनय अन्तर के भूतार्थ स्वभाव में अभेद हो गया है। अर्थात् वहाँ नय और नय का विषय जुदा नहीं रहा। जब ज्ञानपर्याय अन्तर में झुककर शुद्धद्रव्य के साथ अभेद हुई, तब ही शुद्धनय निर्विकल्प है। ऐसा शुद्धनय कतकफल के स्थान पर है। जैसे - मैले पानी में कतकफल अर्थात् निर्मली नामक औषधि डालने पर पानी निर्मल हो जाता है, वैसे ही कर्म से भिन्न शुद्धात्मा का अनुभव शुद्धनय से होता है। शुद्धनय से भूतार्थ स्वभाव का अनुभव होने पर आत्मा और कर्म का भेदज्ञान हो जाता है।

।।४७।।

प्रश्न :- ग्यारह अंगवाले को भी सम्यग्दर्शन नहीं होता, तब आत्मा की रुचि वगैर इतना सारा ज्ञान कैसे हो जाता है ?

उत्तर :- ज्ञान का क्षयोपशम होना - यह तो मंद कषाय का कार्य है, आत्मा की रुचि का कार्य नहीं। जिसको आत्मा की यथार्थ रुचि होती है, उसका ज्ञान अल्प हो तो भी रुचि के बल पर सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन के लिए ज्ञान के क्षयोपशम की आवश्यकता नहीं, लेकिन आत्मरुचि

की ही आवश्यकता है। ।।४८।।

प्रश्न :- इतने अधिक शास्त्र हैं, उनमें सम्यग्दर्शन के लिए विशेष निमित्तभूत कौन सा शास्त्र है ?

उत्तर :- स्वयं जब स्वभाव को देखने में उग्र पुरुषार्थ करता है, तब उस समय जो शास्त्र निमित्त हो उसको निमित्त कहा जाता है। द्रव्यानुयोग हो, करणानुयोग हो, चरणानुयोग शास्त्र हो, वह भी निमित्त कहा जाता है, प्रथमानुयोग को भी बोधिसमाधि का निमित्त कहा है। ।।४९।।

प्रश्न :- अपनी आत्मा को जानने से ही सम्यग्दर्शन होता है तो फिर अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाननेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर :- अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानना आवश्यक है। अरहन्त की पूर्ण पर्याय को जानने पर ही, वैसी पर्याय अपने में प्रगट नहीं हुई है, इसलिए उसे स्वद्रव्य की तरफ लक्षित करने पर दृष्टि द्रव्य के ऊपर जाती है और सर्वज्ञ-स्वभाव की प्रतीति होती है। इसलिए अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने पर सम्यग्दर्शन हुआ - ऐसा कहा जाता है। ।।५०।।

प्रश्न :- शुद्धस्वरूप का इतना विशाल स्तंभ दिखलाई क्यों नहीं पड़ता ?

उत्तर :- दृष्टि बाहर ही बाहर भ्रमावे, उसको कैसे दिखाई पड़े ? पुण्य के भाव में बड़प्पन देखा करता है, परन्तु अन्दर जो विशाल महान प्रभु पड़ा है उसे देखने का प्रयत्न नहीं

करता। यदि उसे देखने का प्रयत्न करे तो अवश्य दिखाई पड़े। ।।५१।।

प्रश्न :- जिनबिंब-दर्शनसे निद्धत्ति और निकाचित्त कर्म का भी नाश होता है और सम्यग्दर्शन प्रकट होता है - ऐसा श्री धवलग्रन्थ में वर्णन आता है। तो क्या परद्रव्य के लक्ष से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

उत्तर :- श्री धवलग्रन्थ में जो ऐसा पाठ आता है उसका अभिप्राय यह है कि जिनबिंब स्वरूप निज अन्तरात्मा सक्रिय चैतन्यबिन्ब है, उसके ऊपर लक्ष और दृष्टि जाने से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है और निद्धत्ति व निकाचित्त कर्म टलते हैं, तब जिनबिंब-दर्शन से सम्यग्दर्शन हुआ और कर्म टला - ऐसा उपचार से कथन किया जाता है। चूँकि पहले जिनबिंब के उपर लक्ष था, इसलिए उसके उपर उपचार का आरोप किया जाता है। सम्यग्दर्शन तो स्व के लक्ष से ही होता है, पर के लक्ष से तो तीनकाल में हो सकता नहीं - ऐसी वस्तुस्थिति है और वही स्वीकार्य है। ।।५२।।

प्रश्न :- मिथ्यात्व का नाश स्वसन्मुख होने से ही होता है या कोई और दूसरा उपाय भी है ?

उत्तर :- स्वाश्रय से ही मिथ्यात्व का नाश होता है, यही एकमात्र उपाय है। इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय प्रवचनसार गाथा ८६ में बताया है कि स्वलक्ष से शास्त्राभ्यास करना उपायान्तर अर्थात् दूसरा उपाय है, इससे मोह का क्षय होता है। ।।५३।।

प्रश्न :- सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का कारण क्या है ?

उत्तर :- सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट हुई है वह राग की मंदता के कारण प्रकट हुई है-ऐसा तो है ही नहीं, किन्तु सूक्ष्मता से देखें तो द्रव्य गुण के कारण सम्यग्दर्शन हुआ है-ऐसा भी नहीं है। सम्यग्दर्शन की पर्याय का लक्ष और ध्येय व आलम्बन यद्यपि द्रव्य है, तथापि पर्याय अपने ही षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमित हुई है। जिस समय जो पर्याय होनेवाली है उसको निमित्तादि का अवलम्बन तो हैं नहीं, वह द्रव्य के कारण उत्पन्न हुई है-ऐसा भी नहीं है। भाई ! अन्तर का रहस्य कच्चे पारे की तरह बहुत गम्भीर है, पचा सके तो मोक्ष होता है। ।।५४।।

प्रश्न :- 'पूर्णता के लक्ष से प्रारम्भ सो प्रारम्भ'-ऐसा श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है। वहाँ पूर्णता के लक्ष से प्रारम्भ में त्रिकाली द्रव्य को लेना अथवा केवलज्ञान पर्याय को लेना ? कृपया स्पष्टीकरण कीजिए।

उत्तर :- यहाँ पूर्णता के लक्ष में साध्यरूप केवलज्ञान पर्याय लेना त्रिकाली द्रव्य तो ध्येयरूप है। केवलज्ञान उपेय है और साधकभाव उपाय है। उपाय का साध्य उपेय केवलज्ञान है। ।।५५।।

प्रश्न :- दोनों अपेक्षाओं का प्रमाणज्ञान करे फिर पर्यायदृष्टि गौण करें, निश्चयदृष्टि मुख्य करे-इतनी मेहनत करने के बदले 'आत्मा चैतन्य है'-मात्र इतना ही अनुभव में आए

तो इतनी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है या नहीं ?

उत्तरः नहीं, नास्तिक मत के सिवाय सभी मतवाले आत्मा को चैतन्यमात्र मानते हैं। यदि इतनी ही श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा जाए तो सबको सम्यक्त्व सिद्ध हो जाएगा। सर्वज्ञ वीतराग ने आत्मा का जैसा स्वतन्त्र और पूर्ण स्वरूप कहा है-वैसा सत्समागम से जानकर, स्वभाव से निर्णय करके, उसका ही श्रद्धान करने से निश्चय सम्यक्त्व होता है। सर्वज्ञ को स्वीकार करनेवाले जीव ने यह निर्णय किया है कि अल्पज्ञ जीव अधूरी अवस्था के काल में भी सर्वज्ञ परमात्मा जैसा पूर्ण सामर्थ्यवान है। पूर्ण को स्वीकार करनेवाला प्रतिसमय पूर्ण होने की ताकत रखता है। परोक्षज्ञान में वस्तु के वर्तमान स्वतन्त्र त्रिकाली अखण्ड परिपूर्णस्वरूप का निर्णय पूर्णता के लक्ष्य से ही होता है। शुद्धनय से ऐसा जानना निश्चय सम्यक्त्व है।।।५६।।

प्रश्न :- सम्यग्दर्शन तो राग छोड़ने पर होता है न ?

उत्तरः राग की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि करने से सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन होने पर राग से भिन्नता भासित होती है, राग सर्वथा नहीं छूटता, पर राग को दुःखरूप जानकर उसकी रुचि छूटती है। ।।५७।।

प्रश्न :- इस पर से ऐसा प्रश्न होता है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पात्र कौन है ?

उत्तरः यह पात्र ही है, लेकिन पात्र नहीं है - ऐसा मान लेता है। यही शल्य बाधक होती है। ।।५८।।

प्रश्न :- क्या सविकल्प द्वारा निर्विकल्प नहीं होता है ?

उत्तरः सविकल्प द्वारा निर्विकल्प नहीं होता, किन्तु कहा अवश्य जाता है। क्योंकि विकल्प को छोड़कर निर्विकल्प में जाता है, यह बताने के लिए सविकल्प द्वारा हुआ ऐसा कहा जाता है। रहस्यपूर्ण चिट्ठी में आता है कि 'रोमांच होता है' अर्थात् वीर्य अन्दर जाने के लिए उल्लसित होता है, ऐसा बताना है। ।।५९।।

प्रश्न :- शास्त्राभ्यास आदि करने पर भी उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता, तो सम्यग्दर्शन के लिए क्या करना ?

उत्तरः यथार्थ में तो एक आत्मा की ही रुचिपूर्वक सबसे पहिले आत्मा को जानना, वही सम्यग्दर्शन का उपाय है। आत्मा का सत्य निर्णय करनेवाले को पहिले सात तत्वों का सविकल्प निर्णय होता है, शास्त्राभ्यास होता है, शास्त्राभ्यास ठीक है - ऐसा भी विकल्प होता है, लेकिन उससे यथार्थ निर्णय नहीं होता। जहाँ तक विकल्प सहित है, वहाँ तक परसन्मुखता है, परसन्मुखता से सत्य निर्णय नहीं होता। स्वसन्मुख होते ही सत्य निर्विकल्प निर्णय होता है। सविकल्पता द्वारा निर्विकल्प होना कहा है, तो भी सविकल्पता निर्विकल्प होने का सही कारण नहीं है। तब भी सविकल्पता पहिले होती है, इसी कारण सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होना कहा जाता है।

।।६०।।

प्रश्न :- क्या सम्यग्दृष्टि को अशुभभाव के सद्भाव

में आयुष्य बंधती है ?

उत्तरः सम्यग्दृष्टि को चौथे-पाँचवे गुणस्थान में व्यापार-विषयादि का अशुभराग भी होता है, तथापि सम्यग्दर्शन का ऐसा माहात्म्य है कि उसको अशुभभाव के समय आयुष्य नहीं बँधती, शुभभाव में ही बँधती है। सम्यग्दर्शन का ऐसा प्रभाव है कि उसके भव बढ़ते तो है ही नहीं, यदि भव होते भी है तो नीचा भव नहीं होता, स्वर्गादि का ऊँचा भव ही होता है। ।।६१।।

प्रश्न :- जिसके प्रताप से जन्म-मरण टले और मुक्ति प्राप्त हो ऐसा अपूर्व सम्यग्दर्शन पंचमकाल में शीघ्र हो सकता है क्या ?

उत्तरः पंचमकाल में भी क्षणभर में सम्यग्दर्शन हो सकता है। पंचमकाल सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करने के लिए प्रतिकूल नहीं है। सम्यग्दर्शन प्रगट करना तो वीरों का काम है, कायरों का नहीं। पंचमकाल में नहीं हो सकता, वर्तमान में नहीं हो सकता - ऐसा मानना कायरता है। बाद में करेंगे, कल करेंगे - इस प्रकार वायदा करनेवालों का यह काम नहीं है। आज ही करेगें, अभी करेगें - ऐसे वीरों का यह काम है। आत्मा आनंदस्वरूप है, उसके समक्ष देखनेवालों को पंचमकाल क्या करेगा ? ।।६२।।

प्रश्न :- शुद्धात्मा की रुचिरूप सम्यग्दर्शन को निश्चयसम्यग्दर्शन कहा गया है। उस निश्चयसम्यग्दर्शन के सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व ऐसे दो भेद क्यों ?

उत्तरः निश्चय सम्यग्दर्शन के साथ वर्तते हुए राग को बताने के लिए निश्चय सम्यक्त्व को सराग सम्यक्त्व कहा जाता है। वहाँ सम्यग्दर्शन तो निश्चय ही है, परन्तु साथ में प्रवर्तमान शुभराग का व्यवहार है, अतः उसका संबंध बताने के लिए सराग सम्यक्त्व कहने में आता है। गृहस्थाश्रम में स्थित तीर्थंकर, भरत, सगर आदि चक्री तथा राम, पाण्डव आदि को सम्यग्दर्शन तो निश्चय था तथापि उसके साथ वर्तते हुए शुभ राग का संबंध बताने के लिए उन्हें सराग सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। यहाँ मूल प्रयोजन वीतरागता पर वजन देना है। इसलिए निश्चय सम्यक्त्व होने पर भी उसे सराग सम्यक्त्व कहा गया है और उसे वीतराग सम्यक्त्व का परम्परा साधक कहा है। शुद्धात्मा की रुचिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन में सराग और वीतराग के भेद नहीं है। है तो एक-सा सम्यग्दर्शन, किन्तु जहाँ स्थिरता की मुख्यता का कथन चलता हो वहाँ सम्यक्त्व के साथ वर्तते हुए राग के संबंध को देखकर उसे सराग सम्यक्त्व कहा है और रागरहित संयमी के वीतराग सम्यक्त्व कहा है, क्योंकि जैसा वीतराग स्वभाव है वैसा ही वीतरागी परिणमन भी हुआ है, अतः वीतरागता का सम्बन्ध देखकर उसे वीतराग सम्यग्दर्शन कहा गया है। ।।६३।।

प्रश्न :- ज्ञान प्राप्ति का फल तो राग का अभाव होना है न ?

उत्तरः राग का अभाव अर्थात् राग से भिन्न आत्मा के अनुभव पूर्वक भेदज्ञान का होना। इसमें राग के कर्त्तापने का

- स्वामीपने का अभाव हुआ, राग में से आत्मबुद्धि छूट गई, यही राग के प्रथम नम्बर का अभाव हो गया।।।६४।।

प्रश्न :- जिस समय जीव हेय-उपादेय को यथार्थ समझे, उसी समय हेय को छोड़कर उपादेय को ग्रहण करे अर्थात् सच्ची श्रद्धा के साथ ही साथ पूर्ण चारित्र भी होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता तो है नही, इसलिए हम तो ऐसा मानते है कि जब यह जीव रागादि को त्यागकर चारित्र अंगीकार करे, तभी उसे सच्ची श्रद्धा होती है - ऐसा मानने में क्या दोष है ?

उत्तर :- सम्यग्दर्शन का काम तो परिपूर्ण आत्मस्वभाव को ही मानना है, रागादि के ग्रहण-त्याग करने का काम सम्यग्दर्शन का नहीं है, वह तो चारित्र का अधिकार है। सच्ची श्रद्धा का कार्य यह है कि उपादेय की उपादेयरूप से और हेय की हेयरूप से प्रतीति करे, उपादेय को अंगीकार करना और हेय को छोड़ने का काम चारित्र का है, श्रद्धा का नहीं। राजपाट में होने पर भी और राग विद्यमान होने पर भी भरत चक्रवर्ती, श्रेणिक राजा, रामचन्द्रजी तथा सीताजी इत्यादि सम्यग्दृष्टि थे। सम्यग्दर्शन होने पर व्रतादि होना ही चाहिए और त्याग होना ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि सम्यग्दर्शन होने पर विपरीत अभिप्राय का - मिथ्या मान्यता का त्याग अवश्य हो जाता है। ।।६५।।

प्रश्न :- क्या मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में सम्यग्दर्शन

होता है ?

उत्तर :- मतिज्ञानपूर्वक सम्यग्दर्शन होता है तो भी मतिज्ञान के समय आनंद का वेदन नहीं है। श्रुतज्ञान में आनंद का वेदन होता है। अर्थात् श्रुतज्ञान में सम्यग्दर्शन का आनंद आता है, तो भी मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान में सम्यग्दर्शन होता है ऐसा कहा जाता है। ।।६६।।

प्रश्न :- द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद के विचार में भी मिथ्यात्व किस प्रकार है ?

उत्तर :- भेद का विचारना कहीं मिथ्यात्व नहीं है। ऐसा भेद विचार तो सम्यग्दृष्टि को भी होता है किन्तु उस भेद-विचार में जो रागरूप विकल्प है, उसे लाभ का कारण मानना और उसमें एकत्वबुद्धि करके अटक जाना मिथ्यात्व है। एकत्वबुद्धि किए बिना मात्र भेद-विचार मिथ्यात्व नहीं है, वह तो अस्थिरता का राग है। ।।६७।।

प्रश्न :- बन्धन का नाश निश्चय सम्यग्दर्शन से होता है या व्यवहार सम्यग्दर्शन से ?

उत्तर :- जिसको निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ हो, उस जीव को व्यवहार सम्यग्दर्शन में दोष (अतिचार) होने पर भी वह दोष दर्शनमोह के बन्ध का कारण नहीं होता, क्योंकि निश्चय सम्यग्दर्शन के सद्भाव में मिथ्यात्व संबंधी बंधन नहीं होता। किसी जीव को व्यवहार सम्यग्दर्शन तो बराबर हो, उसमें किञ्चित भी अतिचार न लगने देता हो, परन्तु उसे निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है तो मिथ्यात्व या मोह का बन्ध

बराबर होता रहता है। व्यवहार सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व को टालने में समर्थ नहीं है, अपितु निश्चय सम्यग्दर्शन ही मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होने देता। अतः यह सिद्धान्त निकला कि निश्चय से बन्ध का नाश होता है, व्यवहार से नहीं।

।।६८।।

प्रश्न :- उपयोग में उपयोग है - इसका क्या मतलब ?

उत्तर :- उपयोग में उपयोग अर्थात् सम्यग्दर्शन की निर्विकल्प परिणति में उपयोग अर्थात् त्रैकालिक आत्मा आता है। आत्मा तो आत्मारूप-उदासीनरूप में विद्यमान है, निर्विकल्प होने पर शुद्धोपयोग में त्रैकालिक उपयोगस्वरूप आत्मा जाना जाता है। ।।६९।।

प्रश्न :- विकल्पसहित निर्णय करना सामान्य श्रद्धा और निर्विकल्प अनुभव करना विशेष श्रद्धा - क्या यह ठीक है ?

उत्तर :- नहीं। श्रद्धा में सामान्य-विशेष का भेद है ही नहीं। अखण्ड आत्मा की निर्विकल्प अनुभवसहित प्रतीति करना वही सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन करनेवाले जीव को प्रथम 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है' - ऐसा विकल्पसहित निर्णय होता है, तत्पश्चात् जब निर्विकल्प अनुभव करता है, तब पहले के विकल्पसहित किये गए निर्णय को व्यवहार कहा जाता है।

।।७०।।

प्रश्न :- स्वानुभव करने के लिए छह मास अभ्यास करना बताया वह अभ्यास क्या करना ?

उत्तर :- 'राग वह मैं नहीं, ज्ञायक वह मैं हूँ, इस प्रकार ज्ञायक की दृढ़ता जिसमें हो वैसा बारम्बार अभ्यास करना। ।।७१।।

प्रश्न :- धारणाज्ञान में यथार्थ जाने तो सम्यक्सन्मुखता कही जाय या नहीं ?

उत्तर :- धारणाज्ञान में अपूर्व रीति से दृढ़संस्कार डाले, पहले कभी नहीं डाले हों-ऐसे अपूर्व रीति से संस्कार डाले जावें तो सम्यक्सन्मुखता कही जाय। ।।७२।।

प्रश्न :- अन्तर में उतरने के लिए रुचि की आवश्यकता है या कोई अन्य भूल है जिसके कारण अन्तर में नहीं उतर पाता ?

उत्तर :- अन्तर में उतरने के लिए सच्ची रुचि की आवश्यकता है, किन्तु इस रुचि के संबंध में अन्य कोई क्या कह सकता है, स्वयं से ही निर्णय होना चाहिए। सच्ची रुचि हो तो आगे बढ़ता जाय और अपना कार्य कर ले। ।।७३।।

प्रश्न :- क्या नवतत्व का विचार पाँच इन्द्रियों का विषय है ? नवतत्व के विचारक को किसका अवलम्बन है ?

उत्तर :- नवतत्व का विचार पाँच इन्द्रियों का विषय नहीं है, पाँच इन्द्रियों के अवलम्बन से नवतत्व का निर्णय नहीं होता अर्थात् नवतत्व का विचार करनेवाला जीव पंचेन्द्रिय के विषयों से तो हट गया है। अभी मन का अलवम्बन है, परन्तु वह जीव मन के अवलम्बन में अटकना नहीं चाहता, वह

तो मन का अवलम्बन भी छोड़कर अभेद आत्मा का अनुभव करना चाहता है। स्वलक्ष्य से राग का नकार और स्वभाव का आदर करनेवाला भाव निमित्त और राग की अपेक्षा से रहित भाव है, उसमें जो भेद के अवलम्बन की रुचि छोड़कर अभेद स्वभाव के अनुभव की रुचि का जोर वर्त रहा है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण है। ।।७४।।

प्रश्न :- नवतत्व का विचार तो पहले अनन्तबार कर चुके हैं, फिर भी लाभ क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर :- भाई ! पहले जो नवतत्व का विचार कर चुके हो, उससे इसमें कुछ विशेषता है। पहले जो नवतत्व का विचार कर चुके हो, वह तो अभेदस्वरूप के लक्ष्य बिना किया था, जबकि यहाँ अभेद स्वरूप के लक्ष्य सहित की बात है। पहले अकेले मन के स्थूल विषय से नवतत्व के विचाररूप आँगन तक तो अनन्तबार आया है, परन्तु उससे आगे बढ़कर विकल्प तोड़कर ध्रुव चैतन्यतत्व में एकपने की श्रद्धा करने की अपूर्व समझ से वंचित रहा, इसलिए भवभ्रमण खड़ा रहा। ।।७५।।

प्रश्न :- शुभभाव में गर्भित शुद्धता कही गई है, उसी प्रकार मिथ्याश्रद्धान में गर्भित शुद्धता है क्या ?

उत्तर :- नहीं, मिथ्याश्रद्धानयुक्त पर्याय विपरीत ही है, उसमें गर्भित शुद्धता नहीं है। ज्ञान में निर्मलता विशेष है, ज्ञान के अंश को निर्मल कहा है और वह वृद्धिंगत होकर केवलज्ञान होता है। तथा शुभ में गर्भित शुद्धता का अंश कहा

है, किन्तु ग्रन्थिभेद (सम्यग्दर्शन) होने के बाद ही वह शुद्धता काम करती है। ।।७६।।

प्रश्न :- राग से छुटकारा कैसे मिले ?

उत्तर :- एकान्त दुःख के जोर से छुटकारा मिल जाय ऐसा बनता नहीं। हाँ, द्रव्यदृष्टि के जोर से राग से छुटकारा मिल सकता है। आत्मा को पहिचाने बिना, जाने बिना जावें कहाँ ? आत्मा को जाना हो, उसका अस्तित्व ग्रहण किया हो, तो राग से छूटकर आत्मा में लीन हो सकता है। ।।७७।।

प्रश्न :- आत्मानुभव करने के लिए प्रथम क्या करना चाहिए ?

उत्तर :- प्रथम यह निश्चित करना कि मैं शरीरादि परद्रव्यों का कुछ नहीं कर सकता और जो विकार होता है वह कर्म से नहीं, किन्तु मेरे अपने ही अपराध से होता है, ऐसा निश्चय करने के बाद विकार मेरा स्वरूप नहीं, मैं तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञायक हूँ-ऐसा निर्णय करके ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा के सन्मुख होने का अन्तर प्रयत्न करना चाहिए।।।७८।।

प्रश्न :- सत् का संस्कार डालने में क्या लाभ ?

उत्तर :- जिसप्रकार कोरे मटके पर जल की बिन्दु छिड़कने से मटका उसे चूस लेता है और जलबिन्दु उपर दृष्टिगोचर नहीं होती, फिर भी जल की आर्द्रता तो अन्दर रहती ही है, इसी कारण विशेष बूँदे पड़ने पर मटके की मिट्टी गीली हो जाती है और जल उसके उपर दिखाई देने लगता है,

उसीप्रकार जो जीव सत् की गहरी जिज्ञासा करके सत् के गंभीर संस्कार अंदर में डालेगा, उस जीव को कदाचित् वर्तमान में पुरुषार्थ की कचास के कारण, कार्य न हो सके, तथापि सत् के गहरे डाले हुए संस्कार दूसरी गति में प्रकट होंगे, अतः सत् के गहरे संस्कार अवश्य डालो। ।।७९।।

प्रश्न :- दीर्घकाल से तत्वाभ्यास करने पर भी आत्मा प्राप्त क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर :- आत्मा अतीन्द्रिय आनंद का नाथ है, उस अतीन्द्रिय आनंद की लगन उत्पन्न हो, आत्मातिरिक्त अन्यत्र मिठास लगे नहीं, रस पड़े नहीं, जगत के पदार्थों का रस फीका लगने लगे अर्थात् संसार के राग का रस उड़ जाय अहो ! जिसका इतना विशद् बखान हो रहा है, वह आत्मा अनन्तानन्त गुणों का पुंज प्रभु है कौन ? ऐसा आश्चर्य उत्पन्न हो, उसकी लगन लगे, धुन चढ़े, तब समझना चाहिए कि आत्मा प्राप्त होगा ही, न प्राप्त हो - ऐसा नहीं हो सकता। जैसा कारण होगा, वैसा कार्य होगा ही, कारण उपस्थित हुए बिना कार्य होता नहीं और कारण की अपूर्णता में भी कार्य सम्पन्न करने की क्षमता नहीं। आत्मा के आनंदस्वरूप की अन्दर से सच्ची लगन लगे, बेचैनी हो, स्वप्न में भी उसका अभाव न हो, तब समझना चाहिये कि अब आत्मानुभूति अवश्य होगी। ।।८०।।

प्रश्न :- आत्मा का स्वरूप ज्ञान में आने पर भी वीर्य बाह्य में क्यों अटक जाता है ?

उत्तर :- जैसा विश्वास आना चाहिए, वैसा नहीं आता

है, इसलिए अटक जाता है। जानपना तो ग्यारह अंग का भी हो जाय, परन्तु यथोचित भरोसा नहीं आता। भरोसे से भगवान हो जाय, परन्तु वह नहीं आता, इसलिए भटकता है।

॥८१॥

प्रश्न :- इसमें रुचि की कमी है या भावभासन में भूल है ?

उत्तर :- मूल में तो रुचि की ही कमी है।॥८२॥

प्रश्न :- हम तत्वनिर्णय करने का उद्यम तो करते हैं, परन्तु बीच में प्रतिकूलता आ पड़े तो क्या करें ?

उत्तर :- जिसको तत्वनिर्णय करना है, उसको तत्वनिर्णय में प्रतिकूलता कुछ है ही नही। प्रथम तो संयोग आत्मा में आता ही नहीं, संयोग तो आत्मा से भिन्न ही है, इसलिए प्रतिकूल संयोग वास्तव में आत्मा में हैं ही नहीं। फिर सातवें नरक में बाह्यसंयोग तो अनन्त प्रतिकूल है, तथापि वहाँ भी अनादि का मिथ्यादृष्टि जीव तत्वनिर्णय करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है। इससे सिद्ध हुआ कि प्रतिकूलता आत्मकल्याण में कोई बाधा नहीं डालती।

जिसको आत्मा की जिज्ञासा जागृत हुई है और सच्चे देव-गुरु निमित्त में मिले हैं, उसको तत्वनिर्णय की अनुकूलता ही है, प्रतिकूलता किंचित् भी नहीं है। तत्वनिर्णय करने के लिये सच्चे देव-गुरु अनुकूल हैं और अन्तर में अपना आत्मा अनुकूल हैं। जिसको सच्चे देव-गुरु निमित्तरूप से मिले और अन्तर में आत्मा की रुचि हुई, उसको तो सब अनुकूल ही

है। अरे ! उसे कुछ भी प्रतिकूलता बाधक नहीं है।

॥८३॥

प्रश्न :- जो जीव वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं करता, उसकी स्थिति क्या होती है ?

उत्तर :- जो जीव वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं करता, उसका चित्त 'वस्तुस्वरूप किस प्रकार होगा ?' - ऐसे सन्देह से सदा डाँवाडोल अस्थिर बना रहता है। और स्व-पर के भिन्न-भिन्न स्वरूप का उसे निश्चय न होने के कारण परद्रव्य के कर्तृत्व की इच्छा से उसका चित्त सदा आकुलित बना रहता है। तथा परद्रव्य का उपभोग करने की बुद्धि से उसमें राग-द्वेष के कारण उसका चित्त सदा कलुषित बना रहता है। इस प्रकार वस्तुस्वरूप के निर्णय बिना जीव का चित्त सदा डाँवाडोल और कलुषित रहने से, उसकी स्वद्रव्य में स्थिरता नहीं हो सकती। जिसका चित्त डाँवाडोल तथा कलुषितरूप से परद्रव्य में ही भटकता हो, उसे स्वद्रव्य में प्रवृत्तिरूप चारित्र कहाँ से होगा ? नहीं हो सकता। इसलिए जिसे पदार्थ के स्वरूप का निर्णय नहीं, उसे चारित्र नहीं होता।

॥८४॥

प्रश्न :- वर्तमान में कर्मबन्धन है, हीनदशा है, रागादिभाव भी वर्तते हैं, तो ऐसी दशा में शुद्धात्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है ?

उत्तर :- रागादिभाव वर्तमान में वर्तते होने पर भी वे सब भाव क्षणिक हैं, विनाशीक हैं, अभूतार्थ हैं, झूठे हैं। अतः

उनका लक्ष छोड़कर त्रिकाली ध्रुव शुद्ध आत्मा का लक्ष करके आत्मानुभूति हो सकती है। रागादिभाव तो एक समय की स्थितिवाले है और भगवान आत्मा त्रिकाल टिकनेवाला अबद्धस्पृष्टस्वरूप है। इसलिए एक समय की क्षणिक पर्याय का लक्ष छोड़कर त्रिकाली शुद्ध आत्मा का लक्ष करते ही - दृष्टि करते ही आत्मानुभूति हो सकती है। ।।८५।।

प्रश्न :- विकल्प से निर्विकल्प होने में सूक्ष्म विकल्प रोकता है, उसका क्या करें ?

उत्तर :- निर्विकल्प होने में विकल्प रोकता नहीं है। वास्तविकता यह है कि तू स्वयं अन्दर में ढलने योग्य पुरुषार्थ करता नहीं है, इसलिए विकल्प टूटता नहीं है। विकल्प को तोड़ना नहीं पड़ता, किन्तु स्वरूप में ढलने का पुरुषार्थ उग्र होने पर विकल्प सहज ही टूट जाता है। ।।८६।।

प्रश्न :- सम्यक्त्व-सन्मुखजीव तत्व के विचार में राग को अपना जानता है क्या ?

उत्तर :- सम्यक्त्व-सन्मुख जीव ऐसा जानता है कि राग है, वह मेरा अपराध है, राग मेरा स्वरूप नहीं, राग मैं नही,- ऐसा जानकर उसका लक्ष छोड़कर अन्दर में जाने का- आत्मानुभव करने का प्रयत्न करता है। ।।८७।।

प्रश्न :- स्वानुभव मनजनित है या अतीन्द्रिय है ?

उत्तर :- वास्तव में स्वानुभव में मन और इन्द्रियों का अवलम्बन नहीं है, इसलिए वह अतीन्द्रिय है, परन्तु स्वानुभव के समय मति-श्रुतज्ञान विद्यमान है और वह मति-श्रुतज्ञान मन

अथवा इन्द्रियों के अवलम्बन बिना होता नहीं, इस अपेक्षा से स्वानुभव में मन का अवलम्बन भी कहा गया है। वास्तव में जितना मन का अवलम्बन टूटा उतना ही स्वानुभव है। स्वानुभव में ज्ञान अतीन्द्रिय है। ।।८८।।

प्रश्न :- परिचय किसका करना चाहिए ?

उत्तर :- सत्स्वरूप ऐसे आत्मा का परिचय करना चाहिए। जितना जिसका परिचय होगा, उतनी ही उसकी परिणति होगी। राग का रसीला होकर जगत के जीवों का परिचय करेगा तो तेरी परिणति पतित हो जायेगी। जिनको शरीरादि का प्रेम है, पुण्य का प्रेम है, ऐसे लौकिक जनों का परिचय करेगा तो तेरी परिणति बिगड़ जायेगी। लोग मान-सन्मान तुझे समर्पित करेंगे तो उनके परिचय में तू मर जायेगा। स्त्री पुत्रादि अथवा व्यापारादि के परिचय से तुझे विशेष हानि होगी। तू तो आनंद का नाथ प्रभु है। तेरे परिचय में यदि वह रहेगा तो तुझे आनंद और सुख प्राप्त होगा। जैसे जंगल में सिंह निर्भय होकर विचरता है, उसे हिरण आदि का भय नहीं होता, वैसे ही तू भी निर्भय होकर अपने स्वदेश में विचरण कर।।८९।।

प्रश्न :- आत्मानुभव होने से पहले अन्तिम विकल्प क्या होता है ?

उत्तर :- अन्तिम विकल्प का कोई नियम नहीं है। राग से भिन्नता पूर्वक शुद्धात्मा की सन्मुखता का प्रयत्न करते-करते चैतन्य की प्राप्ति होती है। जहाँ त्रिकाली ज्ञायक प्रभु की तरफ परिणति ढल रही हो, ज्ञायकधारा की उग्रता और

तीक्ष्णता हो, वहाँ अन्तिम विकल्प क्या होगा - इसका कोई नियम नहीं है। पर्याय को अन्दर गहराई में ध्रुव पाताल में ले जाय, वहाँ भगवान आत्मा की प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शन होता है। ।।९०।।

प्रश्न :- सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये - आत्मा का अनुभव करने के लिये प्रथम क्या करें ?

उत्तर :- प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव निज आत्मा का निर्णय करना। प्रत्येक जीव सुख की इच्छा रखता है; तो पूर्ण सुख किसने प्रगट किया है, वह पुरुष कौन है, उसकी पहिचान करना और उस पूर्ण पुरुष ने सुख का स्वरूप क्या कहा है उसे जानना। उस सर्वज्ञ पुरुष की कही हुई वाणी वह आगम है। इसलिये प्रथम आगम में आत्मा के सुख का स्वरूप क्या कहा है वह गुरुगम से बराबर जानकर, उसका अवलम्बन करके ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करना। निर्णय वह पात्रता है और आत्मा का अनुभव वह उसका फल है। ऐसा निर्णय करने की जहाँ रुचि हुई वहाँ अन्तर में कषाय का रस मन्द पड़ ही जाता है। कषाय का रस मन्द पड़े बिना इस निर्णय में नहीं पहुँचा जा सकता।

प्रथम श्रुतज्ञान का अवलम्बन करना - उसमें सच्चे आगम कौन से हैं ? उनका कथन करनेवाला पुरुष कौन है ? इत्यादि सब निर्णय करना आ जाता है। ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करने में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का निर्णय करना आदि सब साथ आ जाता है। ।।९१।।

अहा ! सन्त आत्मा का सुन्दर एकत्व-विभक्त स्वरूप बतलाते हैं। अपूर्व प्रीति लाकर वह श्रवण करने योग्य है। जगत का परिचय छोड़कर, प्रेम से आत्मा का परिचय करके भीतर उसका अनुभव करने योग्य है। ऐसे अनुभव में परम शान्ति प्रगट होती है, और अनादि की अशान्ति मिट जाती है। आत्मा के ऐसे स्वभाव का श्रवण-परिचय-अनुभव दुर्लभ है, परन्तु वर्तमान में उसकी प्राप्ति का सुलभ अवसर आया है। इसलिये हे जीव ! दूसरा सब भूलकर तू अपने शुद्धस्वरूप को लक्ष में ले, और उसमें निवास कर। यही करने योग्य है। ।।९२।।

जिसे चैतन्य का लक्ष बँध गया है उसका जोर चैतन्य की ओर झुक रहा है। यही मेरा स्वभाव है - इसप्रकार स्वभाव में ही जोर होने से उसे कम कैसे देखें ? मिथ्यादृष्टि होने पर भी वह सम्यक्त्व-सन्मुख हो गया है, आज वह सम्यक्त्व अवश्य प्रगट करेगा। ।।९३।।

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

७

द्रव्य-गुण-पर्याय

प्रश्नः- धर्म करने में द्रव्य-गुण-पर्याय को समझने की क्या आवश्यकता है ? दान-व्रत-तप करने से धर्म तो होता ही है न ?

उत्तरः- दान-व्रत-तप करे और शुभराग से लाभ माने, धर्म माने तो मिथ्यात्व का महान् पाप बँधता है। व्रतादि के परिणाम तो रागरूप हैं, बन्धरूप है और धर्म तो वीतराग परिणाम है। आत्मा आनन्दस्वरूप हैं, बन्धरूप हैं और धर्म तो वीतराग परिणाम है। आत्मा आनन्दस्वरूप महाप्रभु है, उसे द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप से पहिचाने तो राग से भिन्न पड़कर चैतन्यस्वरूप आत्मा में एकाग्रता हो और धर्म हो।।।१।।

प्रश्नः- द्रव्य और गुण में तथा एक दूसरे गुण में भी क्या कोई अभाव है ? यदि है तो कौन-सा और उसके

समझने से क्या लाभ है ?

उत्तरः- द्रव्य है, वह गुण नहीं और गुण है, वह द्रव्य नहीं। गुण और द्रव्य के बीच में तथा एक गुण और दूसरे गुण के बीच में अतद्भाव है। अपने द्रव्य में भी गुण और द्रव्य में अतद्भाव है। आहाहा ! यहाँ तक गम्भीरता को स्पर्श किया है तो फिर दूसरे बाहर के पदार्थ कि जिनके प्रदेश भी पृथक् ही हैं, वे तो सर्वथा भिन्न हैं ही - ऐसी दशा में एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का क्या कर सकता है ? प्रभु ! तू तो अकेला ही है। अकेले में भी सत्ता को और द्रव्य को तद् अभाव है। ज्ञान है वह आत्मा नहीं, आनन्द है वह आत्मा नहीं और आत्मा है वह आनन्द नहीं, ज्ञान नहीं, इस प्रकार दो के बीच तद् अभाव है। प्रवचनसारजी में द्रव्य की स्वतन्त्रता के अनेक बोल आये हैं। जिस प्रकार सत्य है, उसीप्रकार ज्ञान में आये तभी पर्याय अन्दर झुक सकती है, अन्यथा पर्याय अन्दर में नहीं झुक सकती और अन्दर त्रिकालीस्वभाव पर लक्ष गए बिना आनन्दानुभूति नहीं हो सकती। ।।२।।

प्रश्नः- कोई द्रव्य अपना स्वभाव नहीं छोड़ता है तो जीव संसारी कैसे ?

उत्तरः- कोई द्रव्य अपना स्वभाव नहीं छोड़ता - इसका अर्थ है कोई भी द्रव्य अपने त्रिकाली स्वभाव को नहीं छोड़ता। वर्तमान दशा में विकारी अवस्था होती है की, बंध अवस्था होती है तो भी द्रव्य अपने त्रिकाली स्वभाव को छोड़ता नहीं है। बन्ध की अवस्था हो, मोक्षमार्ग की अवस्था हो, अथवा

मोक्ष हो, परन्तु फिर भी वस्तु तो जैसी की तैसी पर्याय के पीछे तीनों काल मौजूद पड़ी है। ।।३।।

प्रश्नः- द्रव्य में से पर्याय उत्पन्न होती है, पर्याय व्यय होकर द्रव्य में मिलती है, तब द्रव्य ध्रुव टंकोत्कीर्ण तो नही रहा ?

उत्तरः- पर्याय द्रव्य में से उत्पन्न होती है और पर्याय व्यय होकर द्रव्य में मिलती है, यह पर्यायार्थिक नय से कहा है। द्रव्यार्थिक नय का द्रव्य तो ध्रुव टंकोत्कीर्ण कूटस्थ है। ।।४।।

प्रश्नः- द्रव्य पर्याय भिन्न है तो पर्याय कहाँ से आती है ?

उत्तरः- पर्याय आती तो द्रव्य में से है, कहीं अधर से नहीं आती, लेकिन जब पर्याय को सत् रूप से स्वतन्त्र सिद्ध करना हो तब पर्याय, पर्यायसे ही है। द्रव्य से पर्याय हो तो द्रव्य एक रूप रहता है और पर्याय अनेक रूप होती है। उसे द्रव्य जैसा एक रूप ही होना चाहिए, लेकिन वैसी होती नहीं। द्रव्य सत् है, वैसे पर्याय भी सत् है, स्वतन्त्र है - इस अपेक्षा से द्रव्य से पर्यायको भिन्न कहा जाता है। ।।५।।

प्रश्नः- द्रव्य और पर्याय दो धर्म को पृथक् बताने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तरः- दो धर्म भिन्न है; उनकी प्रसिद्धि करने का प्रयोजन है। पर्याय एक समय की है और उसके पीछे ध्रुवदल तो

त्रिकाल ज्यों का त्यों रहता है, इसको ज्ञेय बनाना चाहिए। ।।६।।

प्रश्न :- आत्मा के पर्यायधर्म को स्वीकार न किया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर :- आत्मा के पर्यायधर्म को माने-जाने, तो 'पर के आश्रय से अपनी पर्याय होती है, - ऐसी मिथ्या मान्यता छूट जाय और अपने द्रव्य के आश्रय से ही अपनी पर्याय होती है - ऐसी मान्यता हो जाय, ऐसा हो जाने पर परद्रव्य से मुझे लाभ-हानि होती है ऐसी मिथ्याबुद्धि नहीं रहे। जिसने पर से अपनी पर्याय में लाभ-हानि होना माना, उसने आत्माके पर्यायधर्म को वास्तव में जाना ही नहीं है। पर्यायधर्म अपना है, किसी अन्यवश के कारण अपना पर्यायधर्म नहीं होता। यदि दूसरा पदार्थ आत्मा की पर्याय को करे, तो आत्मा के पर्यायधर्म ने क्या किया ? यदि निमित्त से पर्याय का होना माना जाय, तो आत्मा का पर्यायधर्म ही नहीं रहता। अपनी अनादि-अनन्त पर्यायें अपने से ही होती है - इस प्रकार यदि अपने पर्यायधर्म को न जाने तो ज्ञान प्रमाण नहीं होता। ।।७।।

प्रश्न :- किसी अपेक्षा से द्रव्य भी परिणामी है या नहीं ?

उत्तर :- द्रव्य तो अपरिणामी है, बन्ध - मोक्ष के परिणाम को द्रव्य नहीं करता है, परन्तु पर्यायदृष्टि से कथन करना हो तो पर्याय ध्रुव में से आती है और ध्रुव में ही जाती

है इसलिए पर्याय अपेक्षा से द्रव्य परिणमन करता है। द्रव्य द्रव्यदष्टि से निष्क्रिय है, पर्यायदृष्टि अपेक्षा से सक्रिय है। ।।८।।

प्रश्न :- ज्ञानगुण में जितने अविभाग-प्रतिच्छेद हैं, उतने अविभाग प्रतिच्छेद सभी गुणों में हैं क्या ?

उत्तर :- हाँ; जितने अविभाग प्रतिच्छेद एक ज्ञानगुण में है उतने ही श्रद्धा-चारित्र-वीर्यादि सभी गुणों में है। जिसका भाग करने पर दूसरा भाग न हो सके-ऐसे अविभाग-प्रतिच्छेद एक गुण में अनन्त है। अविभाग-प्रतिच्छेद केवलज्ञान होने पर पूर्ण प्रगट होने पर भी ज्ञानगुण में से घटते नहीं ऐसा ही स्वभाव है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य गुण कुछ जानते नहीं हैं, इसलिये उन गुणों के अविभाग - प्रतिच्छेद कुछ कम होते होगें - ऐसा नहीं है।।।९।।

प्रश्न :- परिणामी निश्चय से अपने परिणाम का कर्त्ता है तथापि पूर्व पर्याय का व्यय करता है - यह कथन किस प्रकार है ?

उत्तर :- वास्तव में तो उत्पाद की पर्याय का कर्ता उत्पाद ही है, किन्तु अभेद करके उपचार से परिणामी को कर्ता कहा गया है। परन्तु द्रव्य तो परिणमता ही नहीं, वह तो निष्क्रिय है, पलटने वाली तो पर्याय है। व्यय को उत्पाद का कर्ता कहना भी व्यवहार ही है। षट्कारक का परिणाम ध्रुव और व्यय की अपेक्षा रहित स्वयंसिद्ध उत्पाद होता है। ।।१०।।

प्रश्न :- शास्त्र में पर्याय को अभूतार्थ क्यों कहा है ? क्या उसकी सत्ता नहीं है ?

उत्तर :- त्रिकाली स्वभावको मुख्य करके भूतार्थ कहा और पर्याय को अभूतार्थ कहा अर्थात् पर्याय है नहीं - ऐसा कहा। वहाँ पर्याय को गौण करके ही 'नही है' ऐसा कहा, परन्तु इससे ऐसा मत समझना कि पर्याय सर्वथा हैं ही नहीं। इसी भाँति सम्यग्दृष्टि को राग नहीं, दुःख नहीं - ऐसा कहा, परन्तु इससे ऐसा मत समझना कि वर्तमान पर्याय में राग - दुःख सर्वथा है ही नहीं ! पर्याय में जितना राग है, उतना दुःख भी अवश्य है। जहाँ शास्त्र में ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि के दुःख या राग नहीं है, सो वह तो दृष्टि की प्रधानता से कहा, किन्तु पर्याय में जितना आनन्द है, उतना भी ज्ञान जानता है। यदि वर्तमान पर्याय में होनेवाले राग व दुःख को ज्ञान न जाने तब तो धारणाज्ञान में भी भूल है। सम्यग्दृष्टि के दृष्टि का जोर बताने के लिए ऐसा भी कहा कि वह निराश्रव है, किन्तु यदि आश्रव सर्वथा न हो तब तो मुक्ति हो जानी चाहिए।

कर्ता-कर्म अधिकार में ऐसा कहा कि सम्यग्दष्टि के जो राग होता है उसका कर्ता पुद्गलकर्म है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है, तथा प्रवचनसार में ऐसा कहा कि ज्ञानी के जो राग होता है, उसका कर्ता आत्मा है, राग का अधिष्ठाता आत्मा है। फिर भी एकान्त माने कि ज्ञानी राग का - दुःख का कर्ता-भोक्ता नहीं है तो वह जीव नयविवक्षा को नहीं

समझने के कारण मिथ्यादृष्टि है। एक पर्याय जितना अपने को मानना भी मिथ्यात्व है तो फिर राग को अपना मानना, शरीर को अपना मानना, माता-पिता-धनादि को अपना मानना, तो महान मिथ्यात्व है। अहाहा ! अपने को बहुत बदलना पड़ेगा। अनेक प्रकार की मिथ्या मान्यताओं को छोड़कर ही आत्मसम्मुख हो सकोगे। ।।११।।

प्रश्न :- शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों के पिण्ड को द्रव्य कहा है न?

उत्तर :- वह तो निश्चयाभासी जीव पर्याय को सर्वथा मानता ही नहीं है, उस अपेक्षा से समझाने के लिए शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों का पिण्ड, सो द्रव्य ऐसा कहा है। परन्तु उससे द्रव्य में शुद्ध-अशुद्ध पर्यायें वर्तमानरूप से विद्यमान है। - ऐसा कहने का तात्पर्य नहीं है। द्रव्य तो शक्तिरूप से अकेला पारिणामिक भावरूप ही है, जो पर्याय को सर्वथा नहीं मानता, उससे कहते हैं कि भविष्य की पर्यायें द्रव्य में शक्तिरूप हैं और भूत की पर्यायें योग्यतारूप हैं। पर्यायें सर्वथा हैं ही नहीं - ऐसा नहीं है, इतना जानने के लिये कहा है। ।।१२।।

प्रश्न :- दो नयों को जानना कहा है न ?

उत्तर :- जानना तो ज्ञान का स्वभाव है, जानने के लिये तो सभी नय कहे हैं, परन्तु धर्मरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये तो एकरूप त्रिकाली ध्रुव शुद्ध चैतन्य सामान्यद्रव्य है, वही आश्रय करने योग्य है। जानने के विषय में आदरणीयपना मान लेने से दृष्टि की विपरीतता होती है। ।।१३।।

प्रश्न :- पर्याय को नहीं मानने से तो एकान्त हो जाता है ?

उत्तर :- 'पर्याय है ही नहीं' - ऐसा नहीं है। जो श्रद्धा करती है, जानती है, स्थिरता करती है, वह पर्याय ही है, परन्तु पर्याय का आश्रय करना वह विपरीतता है। चैतन्यसामान्य का आश्रय करने के लिए पर्याय को गौण करके निषेध किया जाता है, परन्तु उससे पर्याय पर्यायरूप में सर्वथा है ही नहीं - ऐसा नहीं है।

एकरूप ध्रुव सामान्यद्रव्य वह परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है, उसमें निर्मल पर्याय को मिलाकर देखना वह मेचकपना होने से अशुद्धनय का विषय है, मलिनता है, सोपाधिक है, सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है।

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहीं और।।

एकरूप ध्रुवचैतन्य ही एक सम्यग्दर्शन का विषय है। शरीरादि नोकर्म को तथा द्रव्यकर्म को बाह्यतत्व कहना हो, तब राग को स्वतत्व कहा जाता है, राग को बाह्यतत्व कहना हो, तब निर्मल पर्याय को स्वतत्व कहा जाता है, निर्मल पर्याय को बाह्यतत्व कहना हो, तब त्रिकाली द्रव्य को स्वतत्व कहा जाता है। राग या निर्मल पर्याय बाह्यतत्व तथा स्वतत्व दोनों कहे जाते हैं, परन्तु त्रिकाली ध्रुवद्रव्य को तो सर्वथा प्रकार से स्वतत्व ही कहा जाता है और वह एक ही दृष्टि का विषय होने से उपादेय है। ।।१४।।

प्रश्न :- पर्याय द्रव्य से भिन्न है कि अभिन्न ? और किस प्रकार ?

उत्तर :- द्रव्य पर्याय से भिन्न है। क्योंकि ध्रुव में तो पर्याय नहीं और पर्याय में ध्रुव आता नहीं अर्थात् ध्रुव पर्याय को स्पर्श करता नहीं, परन्तु पर से भिन्न करने के लिए ऐसा कहते हैं कि द्रव्य की पर्याय है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सामान्य द्रव्य और विशेष पर्याय यह दो धर्म एकरूप हो जाते हैं। यह दोनों धर्म अर्थात् सामान्यधर्म और विशेष धर्म एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते।

।।१५।।

प्रश्न :- समयसार गाथा ११में पर्याय को अभूतार्थ कहा। क्या वह सर्वथा है ही नहीं ? तथा गाथा १५ में पर्याय को मुख्य कहकर उसे जैनशासन कहा। कृपया इसका रहस्य समझाइये ?

उत्तर :- समयसार गाथा ११ में पर्याय को गौण करके अभूतार्थ कहा है, वहाँ तो पर्याय का आश्रय छुड़ाने के लिए पर्याय को गौण करके अभूतार्थ कहा हैं - असत्यार्थ कहा है, किन्तु पर्याय सर्वथा है ही नहीं - ऐसा मत समझना। गौण करने में पर्याय के अस्तित्व का अस्वीकार नहीं है। तथा गाथा १५ में तो जिसमें अबद्धस्पृष्ट आत्मा अनुभव में आया वह पर्याय मुख्य ही है - वह पर्याय जैनशासन है। आहा हा! मेरा जो द्रव्य विकाररहित वीतरागी तत्व है, उसका लक्ष्य करने पर पर्याय में वीतरागता आती है। यह वेदन की

पर्याय मुख्य ही है। द्रव्य तो वेदन में आता नहीं, पर्याय ही वेदन में आती है ओर वह वेदन की पर्याय मुझे मुख्य है, उसे गौण कर देगा तो नहीं चलेगा नाथ! पूर्णानन्द का नाथ जहाँ जाना और अनुभव में आया, वह गौण नहीं हो सकता।

भाई ! वह तो तुझे द्रव्य का लक्ष्य - आश्रय कराने के लिए पर्याय को गौण किया था, परन्तु वेदन में तो पर्याय मुख्य है ही। भले ही द्रव्य का आश्रय कराने के लिए परिणाम को गौण किया था, किन्तु क्या वह परिणाम कहीं चला जावेगा ? नहीं, नहीं, जो परिणाम अस्तिरूप वेदन में आवे, वह कहाँ जावेगा ? आहा...हा...! यह आत्मा तो पुकार करता है कि वीतरागस्वरूप जो मेरा द्रव्य है, उसका लक्ष्य करने पर मुझे वीतरागता वेदन में आती है और यह वेदन मुझे मुख्य है।

।।१६।।

प्रश्न :- वस्तु के द्रव्यस्वभाव में अशुद्धता नहीं तो पर्याय में अशुद्धता कहाँ से आती है ?

उत्तर :- वस्तु 'द्रव्य' और 'पर्याय' ऐसे दो स्वभाववाली है। उनमें से द्रव्यस्वभाव में अशुद्धता नहीं है, किन्तु पर्याय का स्वभाव 'शुद्ध' और 'अशुद्ध' ऐसे दो प्रकार का है अर्थात् पर्याय की अशुद्धता द्रव्यस्वभाव में से आई हुई नहीं है, वह तो तत्समय की पर्याय का ही भाव है, द्वितीय समय में उस पर्याय का व्यय होने पर वह अशुद्धता भी मिट जाती है।

पर्याय की शुद्धता और अशुद्धता के सम्बन्ध में नियम यह है कि जब पर्याय द्रव्याश्रय से परिणमन करती है, तब

शुद्ध और जब पराश्रय से परिणमन करती है तब अशुद्ध है, परन्तु वह अशुद्धता न तो पर में से ही आई है और न द्रव्यस्वभाव में से ही आई है। ।।१७।।

प्रश्न :- पर्याय स्वयं षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमती है और पर्याय को पर्याय का अपना ही वेदन है तो ध्रुव का क्या प्रयोजन है?

उत्तर :- ध्रुवद्रव्य वह तो मूल वस्तु है। ध्रुव का लक्ष्य करने पर ही पर्याय में आनन्द का वेदन आता है, इसलिए ध्रुव मूल वस्तु है। ।।१८।।

प्रश्न :- पर्याय को दूसरे द्रव्य का सहारा नहीं, तो क्या अपने द्रव्य का भी सहारा नहीं है ?

उत्तर :- पर्याय अपने षट्कारक से स्वतन्त्र है। ।।१९।।

प्रश्न :- पर्याय तो पामर है न ?

उत्तर :- पर्याय तो पामर नहीं है, वह तो सम्पूर्ण द्रव्य को स्वीकारती है, उसे पामर कैसे कहें ? पर्याय में महा सामर्थ्य है। सम्पूर्ण द्रव्य को स्पर्श किये बिना उसे स्वीकारती है। ज्ञानकी एक पर्याय में इतनी शक्ति है कि छहों द्रव्यो को जान ले, इसकी शक्ति की बात अलौकिक हैं। ।।२०।।

प्रश्न :- पर्याय स्वयं सम्पूर्ण वस्तु नहीं है फिर भी वह सम्पूर्ण वस्तु को कैसे जान लेती है ?

उत्तर :- एक मतिज्ञान की पर्याय में भी इतनी शक्ति

है कि वह सम्पूर्ण आत्मा को जान ले। पर्याय स्वयं परिपूर्ण वस्तु नहीं है - यह बात तो ठीक भी सम्पूर्ण वस्तु को जान लेने की शक्ति उसमें है। केवलज्ञान पर्याय भले ही एक समय की है, परन्तु समस्त स्व परको जान लेने की अपार शक्ति उसमें है। पर्याय स्वयं परिपूर्ण वस्तु हो तभी वह परिपूर्ण वस्तुको जान सके ऐसा नहीं है। जैसे आत्मा छह द्रव्यरूप न होने पर भी छह द्रव्यों को जान लेता है, ऐसी उसकी शक्ति है, उसीप्रकार एक पर्याय यद्यपि सम्पूर्ण वस्तु नहीं है फिर भी सम्पूर्ण वस्तु को जान लेने की उसकी शक्ति है। जान लेने का कार्य तो केवल पर्याय में ही होता है, कहीं द्रव्य-गुण में नहीं होता। ।।२१।।

प्रश्न :- केवलज्ञानादिक क्षायिकभावों को नियमसार में परद्रव्य कहा है, सो समझ में नहीं आया कि आत्मा में ही होने वाली पूर्णशुद्ध पर्याय को परद्रव्य कैसे कहा ?

उत्तर :- केवलज्ञानादि क्षायिकभाव हैं और निज स्वभावभाव भी हैं - यह तो सत्य ही है, परन्तु किसी अपेक्षावश उन क्षायिकभावों को भी परद्रव्य कहा गया है - यह तो सत्य ही है। जिसप्रकार परद्रव्य में से अपनी पर्याय नहीं आती, उसीप्रकार क्षायिकभावरूप पर्याय में से भी नवीन पर्याय नहीं आती, अपने द्रव्य में से ही शुद्धपर्याय आती है। इसलिए पर्याय का लक्ष छुड़ाकर द्रव्यस्वभाव का लक्ष कराने के प्रयोजन से केवलज्ञानादि क्षायिक भावों को भी परद्रव्य कहा है।

पर्याय के उपर लक्ष्य करने से विकल्पोत्पत्ति होती है,

इसलिए पर्याय पर से लक्ष हटाने के लिए उसे परद्रव्य कहा है। केवलज्ञानादि पर्यायें क्षणिक होने से उन्हें अभूतार्थ भी कहा गया है और त्रिकाली ध्रुवस्वभाव को भूतार्थ कहा गया है। केवलज्ञानादि को पर्याय होने से व्यवहारजीव कहा है तथा त्रिकालीस्वभाव निश्चयजीव है। यह बात बराबर ध्यान में रखने की है कि क्षायिक भाव को अपेक्षावश परद्रव्य कहा गया है। ।।२२।।

प्रश्न :- क्या प्रत्येक पर्याय निरपेक्ष और स्वतंत्र है ?

उत्तर :- प्रत्येक पर्याय सत् है - स्वतंत्र है, उसे पर की अपेक्षा नहीं। राग का कर्ता तो आत्मा नहीं, किन्तु राग का ज्ञान कहना यह भी व्यवहार है तथा ज्ञानपरिणाम को आत्मा करता है - ऐसा कहना भी व्यवहार है। वास्तव में तो उस समय की ज्ञानपर्याय षट्कारक से स्वतन्त्र हुई है। ।।२३।।

प्रश्न :- कृपया थोड़ा ओर विस्तार से समझाइये, हम तो विस्ताररुचि वाले है ?

उत्तर :- सुनो! आत्मा कर्ता होकर पर्याय को करता है - ऐसा कहने में आता है, किन्तु वास्तव में तो पर्याय स्वयं षट्कारक की क्रियारूप से स्वतन्त्र परिणमन करती है। जहाँ भूतार्थ स्वभाव का आश्रय करने की बात आवे, वहाँ आश्रय करनेवाली पर्याय स्वयं षट्कारक से स्वतन्त्र कर्ता होकर लक्ष करती है। वीतरागी पर्याय का, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-

चारित्र की पर्याय का लक्ष्य - आश्रय त्रिकाली द्रव्य है, परन्तु वह लक्ष्यरूप पर्याय स्वयं षट्कारक से स्वतन्त्ररूपेण कर्ता होकर करती है - परिणमती है। पर्याय अहेतुक सत् है न! विकारी पर्याय भी पर की अपेक्षा बिना - परनिरपेक्ष अपने ही षट्कारक से स्वतन्त्रतया परिणमन करती है - ऐसा पंचास्तिकाय गाथा ६२ में कहा है।

विशेष क्या कहें -पर्याय विकारी हो अथवा अविकारी, वह तो प्रतिसमय स्वयं षट्कारक की क्रिया से स्वतन्त्र ही परिणमन करती है। आ हा हा! स्वतन्त्रता की ऐसी बात जिसके श्रद्धान में बैठ जाय - जम जाय, उसके कर्मों का भुक्का उड़ जाता है। परन्तु जिसकी योग्यता हो, संसार का किनारा निकट आ गया हो, उसी को यह बात हृदयस्थ होती है। विरले ही ऐसी बात सुनने और समझने वाले होते हैं - उनकी बहुलता नहीं होती। ।।२४।।

प्रश्न :- विकारी पर्याय को द्रव्य से भिन्न और शुद्धपर्याय को द्रव्य से अभिन्न क्यों कहा जाता है ?

उत्तर :- विकारी पर्याय परद्रव्य की सन्मुखता करती है, इसलिए विकार को द्रव्य से भिन्न कहा और शुद्धपर्याय स्वद्रव्य के सन्मुख होती है, अतः शुद्धपर्याय को द्रव्य से अभिन्न कहा जाता है। उस अभिन्नता का अर्थ यह है कि द्रव्य की जितनी भी सामर्थ्य है -शक्ति है वह ज्ञान पर्यायमें आ जाती हे प्रतीति में आ जाती है, इसलिए शुद्ध पर्याय को द्रव्य से अभिन्न कहा गया ह। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अनित्य पर्याय

नित्यद्रव्य के साथ एकमेक हो जाती हैं। द्रव्य और पर्याय दोनों का स्वरूप ही भिन्न होने से दोनों भिन्न हैं। पर्याय द्रव्य का आश्रय करती है, लक्ष्य करती है, इसलिए पर्याय शुद्ध होती है, किन्तु इससे द्रव्य-पर्याय का एकत्व हो जाता हो - ऐसा नहीं है। दोनों का स्वरूप भिन्न होने से पर्याय द्रव्यरूप और द्रव्य पर्यायरूप कभी भी होना अशक्य है।

पर्यायार्थिकनय से अशुद्धपर्याय द्रव्य से अभिन्न है, इसलिए द्रव्य भी अशुद्ध है - ऐसा कोई कहे तो यह बात सत्य नहीं है। पर्याय अशुद्ध होनेपर भी त्रिकाली द्रव्य कभी भी अशुद्ध होता ही नहीं, त्रिकाली द्रव्य तो शुद्ध ही है। विकार तो पर के लक्ष्य से होने वाला द्रव्य की एक समय की अवस्था का भेष है और मोक्षमार्ग की पर्याय भी द्रव्य की एक समय की अवस्था का भेष है। अरे! सिद्धदशा भी एक समय की अवस्था का भेष है, वह भी त्रिकाली ध्रुव वस्तु नहीं है। यदि त्रिकाली द्रव्य से पर्याय अभिन्न ही हो तो विकारी और अविकारी पर्याय का अभाव होने पर द्रव्य का भी अभाव (नाश) हो जाय। किन्तु द्रव्य तो पर्याय से कथंचित् भिन्न होने से त्रिकाल स्थायी है। श्री समयसार के 'संवर अधिकार' में तो विकार के प्रदेश को भी द्रव्य से भिन्न कहा है, क्रोधादि कषाय और ज्ञान के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं - ऐसा कहा है। ।।२५।।

प्रश्न :- सुखानुभव तो पर्याय में होता है तो फिर आत्मद्रव्य की महिमा क्यों गाई जाती है ?

उत्तर :- अनुभव की शोभा वास्तव में आत्मद्रव्य के कारण ही है। आत्मद्रव्य कूटस्थ होने से यद्यपि अनुभव में नहीं आता, तथा अनुभव तो पर्याय का ही होता है, तथापि जब तक पर्याय द्रव्य को स्वीकार नहीं करती तबतक अनुभव होता नहीं। जहाँ पर्याय ने द्रव्य को स्वीकार किया, वहीं उसकी शोभा है और वह आत्मद्रव्य के कारण ही है। ।।२६।।

प्रश्न :- दुःख का वेदन तो पुद्गल की पर्याय है न ?

उत्तर :- किसने कहा कि पुद्गल की पर्याय है ? वह तो जीव की ही पर्याय है, दुःख का वेदन जीव की पर्याय में होता है। यह तो जीव में से निकल जाता है और जीव का स्वभाव नहीं है तथा पुद्गलके लक्ष्य से होता है, इसलिए द्रव्यदष्टि कराने के प्रयोजन से उसको पुद्गल की पर्याय कहा गया है। किन्तु दुःख का वेदन तो जीव की पर्याय में ही होता है, पुद्गल में नहीं। ।।२७।।

प्रश्न :- पर्याय को परद्रव्य की अपेक्षा नहीं है यह तो ठीक है। क्या पर्याय को स्वद्रव्य की अपेक्षा भी नहीं ?

उत्तर :- छहों द्रव्य की पर्यायें जिससमय होनी हैं, वे पर्यायें षट्कारक की क्रिया से स्वतन्त्रतया अपने जन्म - क्षण में होती हैं। उन्हें अन्य द्रव्य की तो अपेक्षा बिलकुल है ही नहीं, और वास्तव में देखा जाय तो उन्हें स्वद्रव्य की भी अपेक्षा नही है। प्रत्येक द्रव्य में पर्याय का जो जन्मक्षण है, उसी जन्म - क्षण में क्रमबद्धपर्याय होती है। ऐसी स्वतन्त्रता

की बात जगत की प्रतीति में आना कठिन है। ।।२८।।

प्रश्न :- द्रव्य में पर्याय नहीं है तो फिर पर्याय को गौण क्यों कराया जाता है ?

उत्तर :- द्रव्य में पर्याय नहीं है, जो वर्तमान प्रकट पर्याय है। वह पर्याय, पर्याय में है। सर्वथा पर्याय है ही नहीं - ऐसा नहीं है। पर्याय है। उसकी उपेक्षा करके, गौण करके, है नहीं - ऐसा कहकर, पर्याय का लक्ष्य छुड़ाकर, द्रव्य का लक्ष्य और दृष्टि कराने का प्रयोजन है। इसलिए द्रव्य को मुख्य करके, भूतार्थ कहकर उसकी दृष्टि कराई है और पर्याय की उपेक्षा करके, गौण करके, पर्याय नहीं है, असत्यार्थ है - ऐसा कहकर उसका लक्ष्य छुड़ाया है। यदि पर्याय सर्वथा ही न होवे तो उसके गौण करने का प्रश्न ही कहाँ से हो।

पहले वस्तु का अस्तित्व स्वीकार करके ही उसकी गौणता बन सकती है। इसप्रकार द्रव्य और पर्याय दोनों मिलकर ही पूर्णद्रव्य कहलाता है और वह प्रमाणज्ञान का विषय है। ।।२९।।

प्रश्न :- शास्त्र में कहीं तो कथन आता है कि पर्याय का उत्पादक द्रव्य है और कहीं आता है कि पर्याय स्वयं सत् है उसे द्रव्य की अपेक्षा नहीं - सो किस प्रकार है - समझाईये।

उत्तर :- वास्तव में पर्याय, पर्याय से ही है अर्थात् अपने से ही है। उसे पर की अपेक्षा तो है ही नहीं, और वास्तव में अपने द्रव्य की भी अपेक्षा पर्याय को नहीं है। जब पर्याय

की उत्पत्ति सिद्ध करनी हो तो 'द्रव्य से पर्याय उत्पन्न हुई' - ऐसा कहा जाता है, किन्तु जब पर्याय 'है' इसप्रकार उसकी अस्ति सिद्ध करनी हो तब पर्याय है वह अपने से सत्‌रूप है - है - और है, उसको द्रव्य की भी अपेक्षा नहीं। अतः जहाँ जो अपेक्षा सिद्ध करनी हो वहाँ वही अर्थ निकालना चाहिए। ।।३०।।

प्रश्न :- पर्याय द्रव्य से भिन्न है तो अनुभूति है, वही आत्मा है - ऐसा क्यों कहा जाता है ?

उत्तर :- अनुभूति की पर्याय में आत्मद्रव्यका ज्ञान आ जाता है, द्रव्यका सामर्थ्य पर्याय में आ जाता है। जितना द्रव्य का सामर्थ्य है, वह पर्याय में जानने में आता है - इस अपेक्षा से अनुभूति की पर्याय है, वही आत्मा है - ऐसा कहा है। यदि ध्रुवद्रव्य क्षणिक पर्याय में आ जावे, तो द्रव्य का नाश हो जाय, अतः द्रव्य पर्याय में आता नहीं, अपितु द्रव्य का ज्ञान पर्याय में आ जाता है - इसलिए अनुभूति को आत्मा कहा है। ।।३१।।

प्रश्न :- पर्याय के षट्कारक स्वतन्त्र है, पर्याय द्रव्य को नहीं स्पर्शती तो भी उस पर्याय को द्रव्य सन्मुख होना चाहिये - ऐसा क्यों कहते है ?

उत्तर :- पर्याय के षट्कारक स्वतन्त्र हैं, पर्याय द्रव्य को नहीं स्पर्शती तो भी उस **पर्याय की स्वतन्त्रता देखने वाले का लक्ष्य द्रव्य पर ही होता है।** ।।३२।।

प्रश्न :- पर्याय स्वतन्त्र होते हुए भी उसका लक्ष्य

द्रव्य पर क्यों होता है ?

उत्तर :- द्रव्य पर लक्ष्य हो तभी पर्याय की स्वतन्त्रता की यथार्थ श्रद्धा हो सकती है, पर की ओर लक्ष्य होने से नहीं। और पर्याय की स्वतन्त्रताके निर्णय का प्रयोजन भी द्रव्य सन्मुख होने से ही सिद्ध होता है। द्रव्य सन्मुख होने के प्रयोजन से ही पर्याय की स्वतन्त्रता दिखती है। ।।३३।।

प्रश्न :- व्यय होनेवाली पर्याय के संस्कार अगली उत्पाद होनेवाली पर्याय में आते हैं या नहीं ?

उत्तर :- पर्याय तो व्यय होकर ध्रुव में मिल जाती है, अतः व्यय होनेवाली पर्याय उत्पाद होनेवाली पर्याय में कोई संस्कार नहीं डालती। पूर्व का संस्कार उत्तरपर्याय में आता है - यह तो बौद्ध का मत है, यह खोटी मान्यता है। उत्पाद की पर्याय को व्यय की अपेक्षा नहीं है, वह स्वतन्त्र है। ।।३४।।

प्रश्न :- तो फिर नई पर्याय में (उत्पाद की पर्याय में) पूर्व का स्मरण आता है - वह कहाँ से आता है ?

उत्तर :- उत्पाद की पर्याय में स्मरण आता है - वह उत्पाद की सामर्थ्य से आता है। व्यय की पर्याय में जो ज्ञान था, उससे भी अधिक ज्ञान उत्पाद की पर्याय में आ सकता है, परन्तु वह उसकी स्वयं की सामर्थ्य के कारण आता है। ।।३५।।

प्रश्न :- ज्ञायक आत्मा का अवलम्बन अकेले ज्ञानगुण की पर्याय लेती है या अनन्तगुणों की पर्यायें अवलम्बन लेती

है ?

उत्तर :- ज्ञायक आत्मा का अवलम्बन अनन्तगुणों की पर्यायें लेती हैं। ज्ञान से तो बात की है वैसे अवलम्बन तो सभी गुणों की पर्यायें ज्ञायक का लेती है। ।।३६।।

प्रश्न :- निज द्रव्य की अपेक्षा बिना पर्याय होती है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :- ध्रुवद्रव्य तो त्रिकाल एकरूप ही है और पर्याय भिन्न-भिन्न रूप से होती है। वह पर्याय अपनी योग्यतानुसार स्वकाल में स्वतन्त्र रूप से होती है। ।।३७।।

प्रश्न :- यदि ध्रुवद्रव्य की अपेक्षा लेवें तो क्या बाधा है ?

उत्तर :- ध्रुवद्रव्य की अपेक्षा लेने से व्यवहार हो जाता है। पर्याय, पर्याय के स्वकाल से होती है - यह पर्याय का निश्चय है। ।।३८।।

प्रश्न :- पर्याय व्यय होकर द्रव्य में ही समाविष्ट हो जाती है। यदि ऐसा है तो क्या अनन्त अशुद्ध पर्यायों के द्रव्य में समावेश हो जाने से द्रव्य को हानि नहीं पहुँचती ?

उत्तर :- अशुद्धता तो प्रकट पर्याय में अर्थात मात्र वर्तमान हुई पर्याय में ही निमित्त के लक्ष्य से होती है। पर्याय व्यय होकर द्रव्य में समा जाने पर पर्यायरूप से नहीं रहती, अपितु पारिणामिक भावरूप हो जाती है। द्रव्य में विकार पड़ा नहीं, इसलिए उसमें कभी भी हानि नहीं होती। ।।३९।।

प्रश्न :- यदि पर्याय द्रव्य का स्पर्श ही नहीं करती

तो आनन्द किसप्रकार आता है ?

उत्तर :- पर्याय द्वारा द्रव्यका स्पर्श न किये जाने पर भी सम्पूर्ण द्रव्य का ज्ञान पर्याय में आ जाता है, तथापि द्रव्य पर्याय में नहीं आता। धर्मी और धर्म दो वस्तुयें हैं, पर्याय व्यक्त है और ध्रुववस्तु अव्यक्त है। यद्यपि यह व्यक्त और अव्यक्त दोनों धर्म एक ही वस्तु के हैं, तो भी व्यक्त अव्यक्त को स्पर्श नहीं करता, परन्तु पर्याय का लक्ष्य द्रव्य-सन्मुख है इसलिये पर्याय आनन्दरूप परिणमन करती है।।**।४०।।**

प्रश्न :- पर्याय उस समय की सत् है, निश्चित है, ध्रुवहै-ऐसा कहने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर :- पर्याय का लक्ष्य छोड़कर ध्रुवद्रव्य की तरफ ढलने का प्रयोजन है। पर्याय उस समय की सत् है, निश्चित है, ध्रुव है - ऐसा बताकर, उसके ऊपर का लक्ष छुड़ाकर ध्रुवद्रव्य की और लक्ष कराने का प्रयोजन है। पर्याय निश्चित है ध्रुव है, अर्थात् पर्याय उससमय की सत् होने से आगे-पीछे हो सके-ऐसा नहीं है, इसप्रकार जाने तो दृष्टि द्रव्य के ऊपर जावे, और द्रव्यके ऊपर लक्ष्य जाने से वीतरागता उत्पन्न हो। वीतरागता ही मूल तात्पर्य है। अरे! ऐसी बात करोड़ों रूपया अर्पण करने पर भी मिलने वाली नहीं है। अहा ! जिसके जानने पर वीतरागता उत्पन्न हो, भला उसकी किमत क्या ? वह तो अनमोल है। **।।४१।।**

पर्याय में देखना है अपनी वर्तमान योग्यता और द्रव्य में देखना है अपना त्रैकालिक सामर्थ्य। परमें तो उसे देखना

है ही नहीं। कर्माधीन होकर राग करता है उस परतंत्रताको भोगनेकी योग्यता भी उसकी पर्यायमें है और उसी समय उस रागसे भिन्न द्रव्यस्वभाव की शुद्धता सामर्थ्य सदा ज्यों का त्यों हैं ऐसा देखता है। **।।४२।।**

अनंत जिनवर ऐसा कहते हैं कि जीव बंध-मोक्षको नहीं करता उस जीव को हम जीव कहते हैं। अन्य प्रकार से कहें तो बंधपर्याय तो आश्रय करने योग्य नहीं है किन्तु निश्चय मोक्षमार्ग भी आश्रय करने योग्य नहीं है। बंध-मोक्ष से रहित वस्तु आश्रय करने योग्य है। मोक्षमार्ग की पर्याय वह व्यवहार जीव है। पर्याय वह व्यवहार होने से पर्यायवान जीव व्यवहार जीव है और द्रव्य वह निश्चय जीव है।।**।४३।।**

हे योगी ! वास्तविक तत्वदृष्टि से विचारा जाये - देखा जाये अर्थात् अनादि-अनंत वस्तुस्वभाव से परिपूर्ण त्रैकालिक ध्रुव की दष्टि से देखा जाये तो परिपूर्ण ध्रुववस्तु पर्याय की कर्ता है ही नहीं। **।।४४।।**

वस्तु अबंधस्वरूप है, उसे दृष्टि में लेना वह महान पुरूषार्थ है। निर्विकल्प शुद्ध परिणति द्वारा वस्तु दृष्टि में आती है। पर्याय में बंध-मोक्ष है किन्तु द्रव्य में बंध-मोक्ष हैं ही नही। पर्यायमें बंधभाव है और उसके अभाव से मोक्ष होता है, किन्तु त्रैकालिक वस्तु में बंध है ही नहीं। वस्तुस्वभाव में बंध क्यों होगा ? वस्तु में बंध हो तो वस्तु का अभाव हो जाये। शुद्ध निश्चयसे वस्तु में बंध नहीं है, इसलिये बंधके अभाव से होनेवाला मोक्ष भी वस्तुमें नहीं है। ऐसी वस्तुकी दृष्टि करना वह महा-

पुरुषार्थ है। ज्ञायकभाव में बंध-मोक्ष कहाँ से आयगें ? पर्याय के बंध-मोक्ष वस्तु में नहीं है। निर्मल परिणति द्रव्य की नहीं है। आचार्य देव द्रव्य का स्वरूप बतलाने, उसकी द्रष्टि कराने और पर्याय दृष्टि छुडाने हेतु कहते हैं कि पर्यायको द्रव्य करता ही नहीं है। ।।४५।।

जो वस्तु है उसके स्वभाव की सीमा नहीं होती, मर्यादा नहीं होती, उसे पराश्रय नहीं होता। जो स्वभाव भाव है उसे पराश्रय क्यों? अचिंत्य स्वभाव में अपूर्णता क्यों हो ? यह भगवान आत्मा साक्षात् परमेश्वर का ही रूप है। परमेश्वर में तथा प्रत्येक भगवान आत्मा में कोई अंतर नहीं है। ऐसे अपने आत्माको दृष्टि में नहीं लेगा तब तक स्वसंवेदन प्रमाण नहीं हो सकेगा। अपने स्वभाव की महिमा से च्युत होकर परद्रव्य या परभाव में कहीं भी किंचित् माहात्म्य आयेगा तब तक महिमायुक्त अपना निज आत्मा हाथ नहीं आयेगा। जो पर्याय द्रव्य को दृष्टि में लेती है उस पर्याय की महिमा की जब तक प्रतीति नहीं होगी तब तक वीर्य स्वसंवेदन की ओर नहीं मुड़ेगा। ।।४६।।

मैं मुक्त ही हूँ, राग और उसके संम्बन्ध से बंधपना मुझमें है ही नहीं। समयसार की १४ वीं गाथा में कहा है कि-जो आत्माको अबद्धस्पृष्टादि भावोंरूप अर्थात् मुक्तस्वरूप ही देखता है - अनुभवता है उसे शुद्धनय जानना। कर्म तो परवस्तु है, उसके साथ तो जीवको परमार्थतः सम्बन्ध है ही नहीं, किन्तु रागादि विभावों के साथ भी वास्तवमें सम्बन्ध नहीं है।

आत्मा तो रागादिके सम्बन्ध रहित अबंध वस्तु है। अबंध कहो या मुक्त कहो... अहा! दृष्टिने जब द्रव्य को लक्ष में लिया तब मैं मुक्त ही हूँ, -ऐसा अनुभव हुआ। ।।४७।।

प्रभु ! सुन तो सही ! अपनी प्रभुता को देख ! व्यवहारके शुभरागकी पर्याय तो रह गई, परन्तु वीतराग निर्मल दशारूप मुनि पर्यायका जिसमें अभाव है ऐसी तेरी ज्ञायक प्रभुता है। निर्मल पर्याय भी व्यवहारनयका विषय है और समस्त पर्याय से रहित ऐसा ध्रुव ज्ञायक द्रव्य वह निश्चयनयका विषय है। अहाहा ! आत्मा मुनि है या केवलज्ञानी है - ऐसी पर्याय दशा भी ध्रुव ज्ञायकमें नहीं है। केवलज्ञान भी पूर्ण निर्मल पर्याय है। ज्ञानकी पूर्ण पर्यायवाला भी आत्मा नहीं। वह पर्याय ध्रुव द्रव्य का रूप नहीं है। आत्मा तो ध्रुव गुणस्वरूप सहज ज्ञानकी मूर्ति है। गजब की बात है नाथ ! यह जैनदर्शन-वस्तुदर्शन है। ।।४८।।

भगवान कहते है कि प्रभु! तू एकस्वरूपसे भीतर विराजमान है और तेरी जो पर्याय है वह प्रमाण का विषय है। द्रव्य और पर्याय दो का ज्ञान है वह प्रमाण है, परन्तु निश्चय का विषय तो पर्याय रहित अकेला द्रव्य है। कोई प्रश्न करे कि -दिगम्बर ऐसा मानते हैं कि द्रव्य पर्याय को नहीं करता ? तो कहते हैं कि सत्य तो ऐसा ही है कि द्रव्य पर्यायको नहीं करता, द्रव्य पर्याय का स्पर्श नहीं करता-छूता नहीं है तो करेगा कहाँ से ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो धर्मदशा उसे भी द्रव्य छूता नहीं है तो करेगा कहाँ से ?

।।४९।।

जिनके पर्याय बुद्धि छूट गई, वे अन्य जीवों को भी पर्यायबुद्धि से नहिं देखते। अन्य जीवों को भी वे पूर्ण प्रभुरूप से ही देखते हैं। चौदह ब्रह्माण्ड सब भगवान से ही भरपूर हैं, एक समय का लक्ष्य छोड़ दे तो सर्व भगवान समान हैं। ।।५०।।

अहो ! संत कितनी करूणापूर्वक ऐसे गहन विषय को समझा रहे हैं। ज्ञानसे मुक्ति होती है यह बात सच है परन्तु वह भी पर्याय है, इसलिये वह मात्र जानने योग्य है, पर्याय का आश्रय लेने जैसा नहीं है। ध्यान का विषय तो अखण्ड चिदानन्दस्वरूप त्रिकाली ध्रुव द्रव्य है। मोक्षमार्ग की निर्मल पर्यायका भी जिसमें अभाव है एसा चैतन्यद्रव्य ही साधकका ध्येय है। उसके आश्रयसे ही मोक्षमार्ग की शुद्ध पर्याय प्रगट होती है और उसी से मोक्ष प्राप्त होता है। ।।५१।।

द्रव्य का ऐसा लक्ष्य होना चाहिए कि उसे उसका पक्ष कदापि न छूटे। अभी अनुभव नहीं हुआ है, परन्तु निश्चय का ऐसा पक्ष आया है कि अनन्तकालमें ऐसा पक्ष कभी हुआ ही नहीं था। पूर्वकालमें कभी सम्यक्त्व नहीं हुआ ऐसा न कहकर वहाँ (११वीं गाथा के भावार्थ में) निश्चयनय का पक्ष कभी आया ही नहीं ऐसा कहा है न ! पूर्वकाल में द्रव्यलिंगी हुआ तब भी उसे द्रव्यका ऐसा लक्ष्य नहीं हुआ था। इस प्रकार धारणा में तो द्रव्य ऐसा है - वह तो आया था, परन्तु उसकी बात नहीं है। यह तो द्रव्य का ऐसा अपूर्व लक्ष्य

हो जाता है कि उसका उसे स्वयं को ही ख्याल आ जाता है। ।।५२।।

भगवान आत्मा स्वयं अपनेसे ही बाह्य-अभ्यंतर स्पष्ट अनुभवमें आ रहा है अर्थात् पर्याय में पर्याय का तथा त्रिकाली का स्पष्ट रूपसे अनुभव है तथापि, एक समय के आनन्द के अनुभव से उदासीन वर्तता है और त्रिकाली की ओर झुक जाता है इसलिये अव्यक्त है। विकल्प, निमित्त या संयोग की अपेक्षा बिना स्वयं अपने से ही अपने को बाह्य-अभ्यंतर अनुभवता है। बाह्य अर्थात् एक समय की आनन्द पर्याय को अनुभवता है। त्रिकाली स्वयं वेदनमें नहीं आता परन्तु ज्ञान अनुभव में आता है। इस प्रकार बाह्य-अभ्यंतर प्रत्यक्ष अनुभवमें आने पर भी एक समय के आनन्दकी पर्याय में नहीं रुकता, परन्तु उससे उदासीनरूप वर्तता हुआ त्रिकाली की तरफ झुकता है। प्रगट आनन्दकी व्यक्तदशा से उदासीन वर्तता होने के कारण भगवान आत्मा अव्यक्त है। ।।५३।।

विभाव या पर्याय में रूकना वह मार्ग ही नहीं है। भाई! पर्याय में क्यों रूक गया है ? पर्याय रहित निष्क्रिय तत्व - ध्रुवतत्व पर दृष्टि दे न ! पर्याय तो ऊपर ही ऊपर तैरती है, भीतर द्रव्यस्वभाव में प्रवेश नहीं करती। भले ही केवलज्ञान की पर्याय हो, तथापि वह ध्रुवस्वभाव में प्रवेश नहीं करती। पर्याय के ऊपर नहीं किन्तु द्रव्यस्वभाव पर जोर देना चाहिए। पाँच भावों में एक मात्र परमपारिणामिक भाव द्रव्यरूप है और औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक तथा औदयिक -

यह चार भाव पर्यायरूप हैं। पर्याय की अवधि तो एक समय की है, उसमें तू किसलिये रुकता है ? भीतर पूर्णानन्दका नाथ भगवान आत्मा विद्यमान है उसे देख न! अपनी रुचि उसमें लगा न ! भाई ! मार्ग तो ऐसा है। ।।५४।।

ध्रुव ज्ञायक सत्त्व जिसका तल है ऐसे प्रभु भगवान आत्मा में वर्तमान पर्याय को गहराई में ले जाकर त्रिकाली ध्रुवस्वरूप की गहराई में लगन लगाये, उस ओरका पुरूषार्थ करे तो वस्तु प्राप्त हुए बिना न रहे। ।।५५।।

भगवान ! तू आनन्दस्वरूप है, राग और वाणी आदि जड़ को छूने जैसा नहीं है, उससे छुआछूत लगती है। तू भगवानस्वरूप ही है और तुझे भगवान होना पड़ेगा भाई! घोर संसार का कारण ऐसी प्रशस्त एवं अप्रशस्त वचनरचना तथा कनक-कामिनी के मोह से छुआछूत लगती है, उसे छोड़कर तथा पशुसमान अज्ञानी जीवकृत लौकिक भयको छोड़कर तू जैसा है वैसा हो! और जैसा नहीं है उसे छोड़ दे! तू ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मा है, उसकी श्रद्धा करके वैसा हो! और घोर संसार के कारणभूत रागादिरूप तू नहीं है उसे छोड़ दे! अहाहा! दिगम्बर संतों ने मोक्षको हथेली में बताया है। प्रभु! तू मुक्तस्वरूप है उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके स्थिर होने से मोक्ष होता है। ।।५६।।

अनादि से जो मोह की सेना है उसे कैसे जीते उसे जीतने का उपाय क्या है ? यह उपाय आचार्य महाराज यहाँ बतलाते हैं। जिन्होंने एक समयमात्र में तीनकाल और

तीनलोक को जान लिया है ऐसे अरिहंतदेव के द्रव्यको, गुणको तथा पर्यायको सर्व प्रथम यथार्थ जानना। यथार्थ अर्थात् ? उन्हें जानकर स्वयं भी उन जैसा है ऐसी तुलना करनेके लिये स्वके लक्ष्य से अरिहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानना। मैं अरिहंतदेव की जाति का ही हूँ - इस प्रकार आत्मा को जानने के लक्षसे अरिहंतदेव के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानना। रागमिश्रित दशा में अपना आत्मा भी द्रव्य-गुण-पर्यायमय है, ऐसे विकल्प में आत्मा को पहिचान लेना। जैसा अरिहंतदेव का आत्मा है वैसा ही-उन्हींकी जाति-पाँति का मेरा आत्मा है ऐसा मन से समझ लेना। त्रैकालिक नित्य स्थायी ध्रुव चेतनतत्व वह द्रव्य है, चैतन्य आदि अनंत गुण हैं और एक समयमात्र की मर्यादावाली उसकी पर्यायें हैं - ऐसे अरिहंतदेवको यथार्थ जानकर अपनेको पहिचान लेना। - इसप्रकार रागमिश्रित दशा में आत्माको जानकर वर्तमानपर्याय का लक्ष छोड़कर, गुण-गुणी के विकल्प का भी लक्ष्य छोड़कर वर्तमानपर्याय को द्रव्यसन्मुख करके मात्र आत्मा का लक्ष्य करने से निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त किया जाता है कि जिसके निष्कम्प निर्मल प्रकाश द्वारा मोहाधंकार नष्ट हो जाता है। मोहकी सेना पर विजय पाने का यह उपाय है। ।।५७।।

बहिन के (बहिनश्री के) वचनामृत में आता है कि 'मैं अनादि-अनंत मुक्त हूँ,-मुक्तदशा तो सादि-अनंत है और प्रभु है वह अनादि-अनंत है। ऐसे अनादि-अनंत मुक्त शुद्ध आत्मद्रव्य पर दृष्टि करने से पर्याय में शुद्धता प्रगट होती

है। द्रव्य तो मुक्त है, मुक्तिकी पर्याय आना हो तो आये। मेरी दृष्टि तो द्रव्य पर ही है और द्रव्य तो मुक्त ही है। उसपर दृष्टि देने से पर्याय में मुक्ति होगी, होगी, होगी और होगी ही। ।।५८।।

आत्मा को सदा ऊर्ध्व अर्थात् मुख्य रखना, चाहे जो प्रसंग आये परन्तु द्रव्यस्वभाव को मुख्य रखना। आत्मा को मुख्य रखने से जो दशा होती है वह निर्मल-दशा को साधन कहा जाती है और उसका साध्य केवलज्ञान करना है तथा उसका ध्येय पूर्ण आत्मा है। कषायकी मन्दता अथवा ज्ञानके विकास की मुख्यता होगी उसकी दृष्टि संयोग पर जायेगी। आत्मा की ऊर्ध्वता की रुचि और जिज्ञासा हो उसका प्रयास हुए बिना रहता ही नहीं, आत्मा के अनुभव से पूर्व भी सच्ची जिज्ञासा हो उसे अव्यक्तरूपसे आत्मा की ऊर्ध्वता होती है। अभी आत्मा जानने में नहीं आया है, परन्तु अव्यक्तरूप से ऊर्ध्वता होती है और अनुभव में आये तब व्यक्त-प्रगट ऊर्ध्वता होती है। ।।५९।।

भाई! अपने वर्तमान अंशको तू मानता है, परन्तु वह अंश किसके आधारसे होता है ? वह अंश किसका है ? क्या वह 'जानने' रूप किसी परमाणु या रागका है ? भीतर त्रिकाल ज्ञायकतत्व है उसका वह अंश है। वह अंश त्रैकालिक ज्ञायक - अंशी को बतलाता है। पर्याय तो पलटती होने से अनित्य ही है न ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-मोक्षमार्गभी पर्याय होनेसे अनित्य है। अरे! केवलज्ञानकी पर्याय भी प्रति समय

परिवर्तित होनेसे विनश्वर है, क्योंकि पर्यायकी अवधि ही एक समय की है, और वस्तु तो त्रिकाल ध्रुव है। ।।६०।।

हे जीव ! तू अव्यक्त है उसे तू जान। जानने वाली पर्याय किसे जानती है ? कि अव्यक्त को जानती है। आचार्यदेव को करुणा का विकल्प आया है इसलिये यह शुद्धात्मा का उपदेश किया है। शुद्ध चैतन्यघन है वहाँ दृष्टि करने से वर्तमान पर्याय में शुद्ध आनंदकंद का भाव प्रगट होता है। यहाँ यही कहते है कि अपने जीवकी अपेक्षा से छह द्रव्यस्वरूप लोक यह जीव नहीं है इसलिये अजीव है। छह द्रव्यस्वरूप लोक कहकर छह द्रव्य सिद्ध किये और फिर कहा कि वह लोक ज्ञेय है - ऐसा हे जीव ! तू जान। छह द्रव्यस्वरूप लोक वह व्यक्त है, प्रगट है, बाह्य है और अंतर में अव्यक्त सूक्ष्म है उस जीव को तू जान!-ऐसा कहते हैं।।।६१।।

कारण शुद्ध पर्याय में उत्पाद-व्यय नहीं है, वह वर्तमानरूप है। यदि यह एकधारारूप कारणशुद्धपर्याय आत्मा के साथ त्रिकाल न हो तो स्वभाव की शक्ति और उसका एकरूप पूर्ण वर्तमान उन दोनों के अभेदरूप एक परमपारिणामिकभाव सिद्ध नहीं होता। और यदि इस पर्याय का अनुभव हो तब तो बंध-मोक्ष आदि व्यवहार ही नही रहेगा। इसके आश्रय से मोक्ष प्रगट होता है। वह मोक्ष कार्य है और वह पर्याय तो त्रिकाल कारणरूप से वर्तती है। यह परमपारिणामिकभावकी पर्याय पूजित है' आश्रय करने योग्य है। अहो! मुनिराज ने वस्तु के स्वभाव को प्रगट करके रखा है। ।।६२।।

अहो! तुझमें प्रतिसमय परिपूर्णता वर्त रही है, पूर्ण कारण को जब भी जाने तब तेरेमें ही उपस्थित है, बाहर कारण खोजने जाना पड़े ऐसा नहीं है। संसारदशा में भी कारणशुद्धपर्याय त्रिकाल वर्तती है। ।।६३।।

वस्तु के साथ कारणशुद्धपर्याय अनादि-अनन्त वर्तती है, वह गुण नहीं है, सामान्य द्रव्य नहीं है, परन्तु सामान्यके साथ वर्तता एकरूप ध्रुव-विशेष है, वह कारणशुद्धपर्याय है। उसका व्यक्त अनुभव किसीको नहीं होता। यदि उसका व्यक्त अनुभव हो जाये तो वह कारण नहीं रहा। उसमें उत्पाद-व्यय न होने पर भी वह परिणति है, पर्याय है, द्रव्य के साथ अखण्ड पारिणामिक भावसे वर्तमान वर्तती है। अहो! एक धारारूप परम पारिणामिक भाव की परिणति से शोभित चैतन्य भगवान विराज रहा है। वह द्रव्य-गुण से तो पूर्ण है परन्तु पर्याय में भी परिपूर्ण भगवान अनादि-अनंत एकधारारूप जब देखो तब वर्तमान में विराज रहा है - शोभित हो रहा है। ।।६४।।

कारणशुद्धपर्याय किसे कहा जाये ? द्रव्यमें निरपेक्ष कारणरूप शुद्धदशा त्रिकाल है। श्री पद्मप्रभ मुनिराज ने ऐसी बात कही है कि जिसप्रकार धर्म-अधर्म-आकाश और काल यह चारों द्रव्य त्रिकाल शुद्ध हैं तथा पर्याय में भी धाराप्रवाह रूप अखण्ड एकरूप वर्तते हैं, उनकी पर्यायमें विषमता नहीं है, उसीप्रकार आत्मामें भी वैसी एकरूप पर्याय है। संसार, मोक्षमार्ग और मोक्ष -ऐसी पर्यायोंमें तो अनेकरूपता-विषमता आती है।

आत्मा त्रिकालशुद्ध है, उस स्वभाव के साथ त्रिकाल ध्रुवरूप रहनेवाली अव्यक्तरूपसे वर्तमान वर्तती व्यक्तरूप उत्पाद-व्यय रहित ऐसी अखण्ड कारणशुद्धपर्याय है, वह अनादि-अनन्त है। ।।६५।।

इस नियमसार शास्त्रकी टीकामें कहे हुये भावोंका-वस्तुस्वरूपका-निरूपण हमने नया नहीं किया है। परन्तु गणधर आदि श्रुतधरोंकी परंपरासे चला आता है। ऐसे इस परमागममें ऐसा कहा है कि कारणपरमात्मा ही निश्चय आत्मा है और कारणपरमात्मा ही यथार्थतया मोक्षमार्गका हेतु है। यहाँ त्रिकाली परमपारिणामिक भावको ध्येय बतलाना है, अतः प्रकट होती मोक्षमार्गरूप निर्मल पर्यायको भी परद्रव्य और परस्वभाव बतलाकर आश्रय करने योग्य नहीं - ऐसा कहा है। जैसे परद्रव्यके आश्रयसे निर्मल पर्याय प्रकट नहीं होती, वैसे ही निर्मल पर्यायके आश्रयसे भी नवीन निर्मल पर्याय प्रकट नहीं होती - इस कारणसे उसे परस्वभाव और परद्रव्य कहा है। यहाँ भगवानकी गद्दी पर बैठकर अन्तरसे जो बात निकलती है वह परमात्माकी कही हुई (बात) आती है। आज यहाँ बैठते ही विचार आया था कि प्रभु ! यह बात आपकी ही है। ।।६६।।

(समयसार) संवर अधिकारमें तो ऐसा कहा है कि जाननक्रिया आधार है और द्रव्य उसका आधेय है। वहाँ आश्रयकी (अवलम्बनकी) बात नहीं है। परन्तु जिसमें जाना जाता है उस अपेक्षाकी मुख्यतासे वहाँ बात है। ध्रुव वस्तु स्वयं ध्रुव वस्तुको नहीं जानती है, परन्तु पर्यायमें ध्रुव वस्तु जानने में आती है।

कार्यमें कारणका ज्ञान होता है, - ऐसा दर्शाया है। वैसे ही यहाँ भी ऐसा कहा है कि स्वानुभूतिसे वस्तु प्रकाशमान होती है अर्थात् अनुभूतिकी पर्यायमें ध्रुववस्तु जाननेमें आती है। परन्तु अनुभूति की अर्थात् पर्याय पर दृष्टि करने से ध्रुव वस्तु प्रकाशमान होती है - ऐसा यहाँ नहीं कहना है। निर्मल पर्याय वस्तुका आश्रय करती है, तब उस निर्मल पर्यायमें वस्तु जानी जाती है। पर्याय जाननेवाली होनेसे पर्याय द्वारा द्रव्य प्रकाशमान होता है, ऐसा कहा है। ।।६७।।

एक-एक गुणका परिणमन स्वतंत्र और अलग नहीं होता, परन्तु अनन्त - गुणमय द्रव्यके परिणमित होने पर गुणोंका साथ-साथ परिणमन होता है। एक-एक गुण पर दृष्टि डालनेसे गुणका शुद्ध परिणमन नहीं होता, परन्तु द्रव्य पर दृष्टि देनेसे अनन्त गुणोंका निर्मल परिणमन होता है, - आशय यह है कि गुणभेद परसे दृष्टि हटाकर अनन्त गुणमय द्रव्यको दृष्टिगत करते ही द्रव्य शुद्धरूपसे परिणमित होता है। ।।६८।।

भाई ! तुझे पता ही नहीं, तेरी वस्तु तो अंतरमें अभेद ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव सामान्य एकरुप चली आ रही है। चाहे जितनी पर्यायें आए, परन्तु वस्तु तो सामान्य एकरूप ही चली आती है। ऐसे एकरुपकी दृष्टि करने पर, उसमें रहे हुए गुणोंके भेदका भी लक्ष्य छूट जाता है तथा भेद व गुण-विशेषताका लक्ष्य छूटने और अभेद पर दृष्टि पड़ने पर तुझे आनन्दका आस्वादन होगा; तभी तुझे धर्म होगा। ।।६९।।

पर्याय अपेक्षासे तो प्रथम समयके द्रव्य-क्षेत्र-काल-

भाव चारों ही दूसरे समयमें पलट जाते हैं। सदृश्यताकी अपेक्षासे द्रव्यको ध्रुव कहते है, परन्तु प्रथम समयका द्रव्य, दूसरे समयमें पर्याय-अपेक्षासे पलटा हुआ होता है। चक्कीके दो पाटोंमेंसे ऊपरका पाट घूमता है व निचला पाट स्थिर रहता है - उस प्रकारसे किसी भी वस्तुमें दो अलग-अलग भाग नहीं, कि एक भाग ध्रुवरूप रहे व दूसरा भाग घूमे। ।।७०।।

द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षासे ऐसा कहा जाता है कि आत्मामें विकार ही नहीं है, विकार तो पुद्गलका कार्य है; परन्तु ऐसी द्रव्यदृष्टि किसे होती है ? कि जिसे पर्यायकी स्वतंत्रताका भान हो उसे। अभी तक तो जो पर्यायको ही स्वाधीन न जाने, उसे तीनोंकालकी पर्यायके पिण्डरूप द्रव्यकी दृष्टि कैसे हो ? पर्यायमें विकार हैं, उन्हें कर्मोने नहीं करवाए हैं; परन्तु वे मेरे अपराधके कारणसे हैं। ऐसे अंशको स्वतंत्र जाने तथा यह भी जाने कि उस अंश जितना ही त्रिकाल-स्वभाव नहीं है, तो द्रव्यदृष्टि हो। परन्तु ऐसा माने कि कर्म ही विकार कराते हैं; तो उस जीवको पर्यायका भी भान नहीं है, व उसे द्रव्यदृष्टि नहीं होती। ।।७१।।

जगतके समस्त पदार्थ प्रतिसमयमें परिणमित होते रहते हैं। पर्याय - अपेक्षा पूरा द्रव्य ही परिणमित होता है। चक्कीके दो पाटोंकी भाँति एकभाग का सर्वथा कूटस्थ रहना व दूसरे भागका बदलते रहना - ऐसे दो भिन्न-भिन्न भाग नहीं है; परन्तु वस्तु स्वयं ही पर्यायरूपसे पलटती है। पदार्थ व पर्याय, सर्वथा भिन्न-भिन्न नहीं हैं। वस्तु, स्वयं ही पर्याय -

अपेक्षासे नवीन उत्पन्न होती है और व्यय होती है तथा ध्रुवरूप भी रहती है। ।।७२।।

समय-समयकी पर्याय स्वतंत्र है, एक समयमें एक पर्याय व्यक्त है व अन्य अनन्तपर्याय-सामर्थ्य तो द्रव्यरूपसे विद्यमान है - जो ऐसा जाने तो दृष्टि द्रव्य-सन्मुख हुए बिना न रहे। तीनकालकी पर्यायोंका पिण्ड सो द्रव्य - ऐसा कहनेका अर्थ है कि द्रव्यमें पर्यायरूप होनेकी सामर्थ्य है; परन्तु वे पर्यायें प्रकटरूपसे नहीं हैं, शक्तिरूपसे हैं, उन्हीं मेंसे व्यक्ति होती हैं। भविष्यकी पर्यायें अभी कोई पर्यायरूपमें नहीं हैं, किन्तु द्रव्यकी शक्तिरूपमें है। ।।७३।।

द्रव्य-गुण-पर्यायमें अनेक धर्म हैं। जैसे द्रव्यमें अनेक स्वभावधर्म हैं, वैसे ही पर्यायमें भी अनेक स्वभाव - धर्म हैं। प्रत्येक समयकी पर्याय अपना अस्तित्व स्वयं ही अक्षुण्ण रखती है, इसमें परसे नास्तित्वरूप धर्म है। ऐसा न हो तो पर्यायका अस्तित्व ही न रह सके। सम्यग्दृष्टि, ऐसे द्रव्य-गुण व पर्याय - धर्मका विचार निजस्वभाव-सन्मुख रहकर करता है; उसमें जितना राग घटे वही धर्म है। ।।७४।।

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

८

निश्चय-व्यवहार

सम्यग्दर्शनसे पहलेकी भूमिकामें तो व्यवहार आदरने योग्य प्रयोजनवान है न ? नहीं, सम्यग्दर्शनकी पूर्व भूमिकामें व्यवहार कैसा होता है वह जाननेमात्र प्रयोजनवान है। सम्यग्दर्शन पूर्व कैसे निमित्त होते हैं उतना जानने जितना व्यवहारका उपदेश कार्यकारी है। जिनसे यथार्थ उपदेश मिले अर्थात् जिनके उपदेशमें एकरूप शुद्ध ज्ञायकभावका लक्ष कराया जाये, वीतरागताका पोषण हो ऐसे जिनवचनोंका सुनना, धारण करना तथा ऐसे उपदेशके प्रणेताके प्रति भक्ति-वन्दनादि व्यवहारमार्गमें प्रवर्तना प्रयोजनवान है, अर्थात् सम्यग्दर्शनसे पूर्व जिज्ञासुकी भूमिकामें यथार्थ उपदेशका ग्रहण, मनन, चिंतवन तथा देव-शास्त्र-गुरूके प्रति भक्ति-पूजा, विनय-वंदनादिका व्यवहार होता है, उसकी भूमिकामें ऐसा प्रर्वतन होता है ऐसा दर्शानेके लिये

व्यवहार कहा है। वास्तवमें तो निश्चय सम्यग्दर्शनसे पूर्व व्यवहार कहा भी नहीं जाता। सम्यग्दर्शनसे पूर्व कैसे भाव होते हैं उसकी बात है, परन्तु उससे सम्यग्दर्शन होता है ऐसा नहीं है। ।।१।।

श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि धवलादि सिद्धांतमें कहा है कि-त्रैकालिक ध्रुववस्तु उत्पाद्-व्यय रहित निष्क्रिय है, उसमें मोक्षके मार्गकी या बंधमार्गकी क्रियाएँ नहीं हैं। द्रव्य है सो अक्रिय है, उत्पाद-व्यय-ध्रुव युक्तम् सत्, वस्तुमें उत्पाद-व्यय रहित जो ध्रुववस्तु है वह अक्रिय है, इसलिये कोई परिणमन, परिवर्तन या मोक्षमार्गकी क्रिया उसमें नहीं है। जो वस्तु है वह निष्क्रिय है, अक्रिय है और जो मोक्षमार्ग है वह क्रिया है। जो ध्रुववस्तु है उस पर दृष्टि डालनेसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप वीतरागी परिणमन है वह निश्चय मोक्षमार्ग है, और वह निश्चय मोक्षमार्ग साधना सो व्यवहार है।

।।२।।

भाई! तू भगवान है न! तेरे भगवानकी यह बात चलती है। तेरे हितकी बात है। आत्मामें रागको लाना वह तुझे हानि है, तू भगवानस्वरूप आत्मा है, तू अपने को रागसे लाभ होना माने-कहे वह हानि है, प्रभु! ज्ञानी तो रागको उपयोगभूमि में नहीं लाता। निश्चय और व्यवहार साथ होने पर भी ज्ञानी व्यवहार को उपयोगभूमि में नहीं लाता। धर्मात्मा ध्यान में जाये और उस काल जो राग शेष है उसे उपयोगभूमि में नहीं लाता, करता तो नहीं है परन्तु लाता भी नहीं है।

धर्मात्मा को और व्यवहारको सम्बन्ध नहीं है। यह तो वीतरागी वाणी के अमृत झरने हैं। ।।३।।

अहा! `यह सब कषाय-विभाव ज्ञात होते हैं वे ज्ञेय हैं, मैं तो शुद्ध ज्ञायक हूँ' - इसप्रकार निज द्रव्यस्वभावकी पहिचान करे-तद्रूप परिणमन करे तो पर्यायमें प्रगट निर्लेपता, शुद्धता होती है। श्री समयसारकी १२वीं गाथामें कहा है कि-त्रैकालिक परमभावको जो देखता है, उसका जिसने आश्रय लिया है उसे शुद्धनय जानना। उस सम्यग्दृष्टि जीवको पर्यायमें किंचित् अशुद्धता या अपूर्णता है या नहीं ? है, तो उसे क्या कहना ? साधक जीवको परमभावके आश्रयरूप निश्चयके साथ-साथ जितनी शुद्धि बढ़ती जाती है, अशुद्धि घटती जाती है और जितनी कचास रह गई है वह सब व्यवहारनयका विषय है और उस-उस भूमिकामें वह-वह व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है। व्यवहारनयके विषयोंका भी ज्ञान तो ग्रहण करने योग्य है। ऐसी विवक्षासे नहीं। अहाहा! गजब है जैन संतोंकी बाते ! अमृतके समुद्र उछले हैं! ।।४।।

प्रश्न :- अभेदस्वरुप आत्माकी अनुभूति होनेके बाद व्रतादि करनेसे क्या लाभ है ?

उत्तर :- शुद्धात्माका अनुभव होनेके पश्चात् पाँचवे और छट्ठे गुणस्थानमें उस-उस प्रकारके शुभराग आए बिना नहीं रहते। वे शुभराग बन्धके कारण हैं ओर हेय हैं - ज्ञानी ऐसा जानते हैं। शुद्धताकी वृद्धि-अनुसार कषाय घटते जानेसे व्रतादिके शुभराग आए बिना रहते ही नहीं - ऐसा ही स्वभाव है।

।।५।।

अन्तर-शुद्धद्रव्य-एकरूप-निष्क्रिय-ध्रुव-चिदानन्द - सो निश्चय; तथा उसके अवलम्बनसे प्रकट हुई निर्विकल्प-मोक्षमार्ग-दशा व्यवहार है। अध्यात्मका ऐसा निश्चय-व्यवहारस्वरूप ज्ञानी ही जानता है; अज्ञानी नहीं - उसे तो यह बात कदाचित् सुननेको मिले तो भी वह न माने। ।।६।।

प्रश्न :- आप व्यवहार को हेय कहते हैं, तो क्या व्यवहार है ही नहीं ?

उत्तर :- व्यवहार है भले ही, परन्तु मोक्षमार्ग उसके आधार से नहीं है। व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग मानना तो परद्रव्य से लाभ मानने जैसा है। जिसप्रकार, परद्रव्य है, इसलिये स्वद्रव्य है-ऐसी मान्यता में स्व-पर की एकताबुद्धिरूप मिथ्यात्व है, उसीप्रकार, रागरूप व्यवहार है इसलिये निश्चय है-ऐसी मान्यता में स्वभाव और परभाव की एकताबुद्धिरूप मिथ्यात्व है। साधक को सुख के साथ किंचित् दुःख भी है, दोनों धारायें (एक बढ़ती हुई और दूसरी घटती हुई) साथ ही वर्तती है, तो क्या वे दोनों परस्पर एक-दूसरे के कारण से हैं ? नहीं दोनों साथ होने पर भी, दुःख है इसलिये सुख है - ऐसा नहीं है, उसीप्रकार निश्चय और व्यवहार साथ होने पर भी, व्यवहार है इसलिये निश्चय है - ऐसा नहीं है। व्यवहार के आश्रय से बन्धन है और निश्चय के आश्रय से मुक्ति है - ऐसे दोनों भिन्न-भिन्न स्वरूप से वर्तते हैं। ।।७।।

प्रश्न :- जिनवाणी में कथित व्यवहार का फल भी यदि संसार ही है, तो उसके कथन से क्या लाभ ?

उत्तर :- निश्चय दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ अपूर्णदशा के कारण राग की मन्दता में किस-किस प्रकार का मन्द राग होता है, चौथे, पाँचवें, छट्ठे गुणस्थानों की भूमिका में राग की क्या स्थिति होती है, पूजा, भक्ति, अणुव्रत, महाव्रतादि होते है, उनका व्यवहार बताने के लिए जिनागम में उनका कथन किया गया है, परन्तु इस राग की मन्दता के व्यवहार का फल तो बन्धन और संसार है। ।।८।।

प्रश्न :- क्या व्यवहारनय सर्वथा निषिद्ध है ?

उत्तर :- नहीं भाई! व्यवहारनय सर्वथा निषेध करने योग्य नहीं है, क्योंकि साधक जीव को जबतक अपूर्ण दशा वर्तती है, तबतक भूमिकानुसार दया-दान-पूजा-भक्ति-यात्रा-व्रत-तपादि का शुभरागरूप व्यवहार आता है, आये बिना रहता नहीं और उसको उस-उस काल में उस-उस भूमिका में उसे जानना योग्य है, प्रयोजनवान है, निषेध करने योग्य नहीं। परन्तु इसका ऐसा अभिप्राय कदापि नहीं है कि वह आदरणीय भी है हाँ, भूमिकाप्रमाण उत्पन्न होनेवाले राग को जानना उचित ही है। ।।९।।

प्रश्न :- व्यवहार का निषेध करने से तो जीव अशुभ में चला जाएगा ?

उत्तर :- अरे भाई! जो शुभरागरूप व्यवहार में आया है, वह अशुभराग को छोड़ करके ही तो आया है। अब उसको स्व का निश्चय का आश्रय कराने के लिए व्यवहार का निषेध कराते है। वहाँ अशुभ में जाने की बात ही कहाँ

है। ।।१०।।

प्रश्न :- व्यवहार का अति निषेध करना उचित नहीं है -ऐसा पंचसंग्रह में कहा है, उसका क्या आशय है ?

उत्तर :- भगवान का दर्शन, पूजन, भक्ति, शास्त्रश्रवण, स्वाध्याय आदि व्यवहार होता है, उस व्यवहार का परिणाम आता है, यदि उसका निषेध करने जाएगा तो जिनदर्शन, श्रवणादि कुछ रहेगा ही नहीं। पर्याय में पंच महाव्रतादि के परिणाम का व्यवहार होता है अथवा नवदेव के दर्शन, भक्ति आदि का व्यवहार होता है, उसको माने ही नहीं तो वह मिथ्यादृष्टि है और उस व्यवहार से धर्म होता है, - ऐसा माने तो भी मिथ्यादृष्टि है। पर्याय है और उस पर्याय में अनेक प्रकार के शुभराग का व्यवहार है, उसको माने ही नहीं तो मिथ्यादृष्टि है। तीर्थंकर भगवान के कल्याणकों में इन्द्रादि देव करोड़ों देवों की सेना सहित दर्शन-पूजन आदि के लिए आते हैं। भले ही वह व्यवहार हेय है, किन्तु वह भाव आता अवश्य है, आये बिना रहता नहीं। वह व्यवहार जानने योग्य है, उसे यथावत् न जाने तो मिथ्यादृष्टि है। एक ओर तो कहते हैं कि निर्मल क्षायिक पर्याय का भी लक्ष करे तो राग होता है, अतः उस निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य कहकर हेय कहा और दूसरी ओर कहते हैं कि शुभरागरूप व्यवहार आता है होता है, उसको जाने ही नहीं-माने ही नहीं, तो वह मिथ्यादृष्टि है। देव-शास्त्र-गुरू जो व्यवहार के विषय हैं, उन्हें जानना तो चाहिए। भले ही वे आश्रय करने योग्य नहीं है,

किन्तु जानने योग्य तो अवश्य है। व्यवहार है - ऐसा न जाने तो मिथ्यादृष्टि है। जैनधर्म अनेकान्त है। उसे बराबर समझना है, वह न समझे तो एकान्त हो जाएगा।

।।११।।

प्रश्न :- आगम के व्यवहार और अध्यात्म के व्यवहार की परिभाषा बताइये ?

उत्तर :- स्वरूप की दृष्टि होने पर जो शुद्ध परिणमन होता है वह अध्यात्म का व्यवहार है और महाव्रत, त्रयगुप्ति आदि शुभराग आगम का व्यवहार है। ।।१२।।

प्रश्न :- आगम का निश्चय-व्यवहार क्या है और अध्यात्म का निश्चय-व्यवहार क्या है ?

उत्तर :- अध्यात्म में शुद्धद्रव्य को निश्चय कहते हैं और शुद्धपरिणति को व्यवहार कहते है। जबकि आगम में शुद्ध परिणति को निश्चय कहते है और उसके साथ वर्तते हुए शुभपरिणाम को व्यवहार कहते हैं। ।।१३।।

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

निमित्त-उपादान

प्रत्येक द्रव्य के परिणाम अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव से ही होते हैं; अन्य द्रव्य का किंचित् कार्य नहीं है। ध्वजा स्थिर थी और एकदम लहराने लगी, वहाँ पवन के आनेसे लहराने लगी ऐसा नहीं है। पानी ठण्डा था और फिर गरम हो गया वह अग्नि आने से गरम हुआ हो ऐसा नहीं है। चावल कठिन थे और फिर नरम हो गये, वे पानी के आने से हुए हैं - ऐसा नहीं है। बाह्य दृष्टि से देखनेवाले अज्ञानीको निमित्त देखकर भ्रम होता है कि पानी ठण्डा था वह अग्नि का निमित्त आने से गर्म हुआ है; परन्तु ऐसा नहीं है। घर बैठा था तब अशुभ परिणाम थे और मन्दिर में भगवान के दर्शन करने आया वहाँ शुभ परिणाम हुए; इस प्रकार एकदम अशुभमें से शुभ परिणाम हुए वे निमित्त के कारण हुए हैं

ऐसा नहीं है, परन्तु अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव से अर्थात् अपने से ही हुए हैं। एक द्रव्य का कार्य दूसरा द्रव्य बिलकुल नहीं कर सकता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता या स्पर्श नहीं करता तो वह दूसरे द्रव्य का करेगा क्या ? अहाहा ! ऐसी वस्तु की स्वतंत्रता बैठ जाये तो उसकी दृष्टि बाहर से हटकर भीतर की ओर झूक जाये। ।।१।।

कुम्हार का हाथ चलता जाता है और मिट्टी का आकार घड़े का रूप लेता जाता है; फिर भी कहें कि कुम्हार घड़े का कर्ता नहीं है तो अज्ञानी को यह बात कैसे बैठेगी ? किन्तु भाई! कुम्हार और मिट्टी दोनों तत्व भिन्न-भिन्न हैं, एक तत्व दूसरे तत्व को क्या करेगा ? जिस प्रकार द्रव्य का कोई कर्ता नहीं है, उसी प्रकार द्रव्य की पर्याय का भी अन्य कोई कर्ता नहीं है। ।।२।।

अशुद्धता की पर्याय अपने विपरीत पुरूषार्थ के बल से स्वयं करता है तब सामने निमित्तरूप से एक परमाणु नहीं होता, किन्तु अनंत कर्म-परमाणु होते हैं। एक डाकूके लिये दो सौ सिपाही लगाना पड़ते है। वह डाकू की शक्ति सूचित करता है या सिपाही की ? उसीप्रकार जीव के एक विभावपरिणाम के सामने निमित्तरूप से अनंत कर्म-परमाणु हैं, वे जीव की शक्ति सूचित करते हैं या कर्म-परमाणु की ? निमित्त के बल की बात नहीं है। कर्म का जोर आत्मा पर किंचित् नहीं चलता। निमित्त से विकार होता है ऐसा है ही नहीं; निमित्त से हो तो वह स्वयं उपादान हो जाये, परन्तु

ऐसा तो होता नहीं है। स्वयं भले ही एक है, परंतु अपनी शक्ति अनंत है। अनन्त शक्तिवान निज ज्ञायकप्रभु की दृष्टि तथा उसमें स्थिरता करने से पर्याय में रही हुई अशुद्धता का तथा उसमें निमित्तरूप जो अनन्त कर्मपरमाणु थे उनका भी नाश हो जाता है; कर्मकी पर्याय अकर्मरूप हो जाती है। ।।३।।

`सतिया सत् नहिं छोड़िये, सत् छोड़े सत् जाय। 'ऐसा `उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्तम् सत्' है। प्रत्येक पर्याय का उत्पाद अपने से सत् है। वह सत् पर्याय को इधर-उधर नहीं करेगा। दूसरे से सत् पर्याय का उत्पाद होगा ऐसा नहीं मानना। जिस पर्याय का उत्पाद होता है वह पूर्व पर्याय के व्यय से - अभाव से होता है, परन्तु निमित्त से उत्पाद नहीं होता। भाई! सुखी होना हो तो सत् जैसा है वैसी अपनी श्रद्धा रखना। अहाहा! ऐसी स्वतंत्रताकी बात जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं है। ।।४।।

जब यहाँ शुभभाव हुआ उसी समय साता वेदनीय कर्म बंधा, वह पर्याय उसके क्रमबद्धमें थी वैसी ही हुई है। उस क्षण कर्मकी पर्यायका उत्पत्तिकाल था - कर्म था तदनुसार हुई है वह क्रमबद्ध सिद्ध हुआ। अब अज्ञानीका शुभराग है वह नवीन कर्मबंध में निमित्तकर्ता है। कर्मबंध की पर्याय अपने उपादानरूप हुई उसमें अज्ञानी का शुभराग निमित्तकर्ता है, इसप्रकार उपादान-निमित्त सिद्ध हुए। तथा शुभराग कर्मबंधमें निमित्त होता है परन्तु मोक्षमें निमित्त नहीं होता अर्थात् शुभरागसे

निश्चय नहीं होता अर्थात् व्यवहारसे निश्चय होता है वह बात भी उड़ गई। इसप्रकार निश्चय-व्यवहार सिद्ध हुए। राग आया वह उसकी उत्पत्तिका जन्मकाल था और कर्मकी प्रकृत्ति बँधी वह उसके जन्मक्षणमें बँधी है तथा ज्ञानीको उसका ज्ञान भी अपने स्वकालमें हुआ है। इसप्रकार यह सब परिणमन क्रमानुसार हुआ है, अक्रमसे हुआ ही नहीं-ऐसा सिद्ध हुआ। ।।५।।

जिस-जिस द्रव्यकी जिस-जिस कालमें जो-जो क्रिया हो रही है उसका निमित्तकर्ता भी आत्मा नहीं है। परद्रव्यस्वरूप नोकर्मकी क्रियामें तथा जड़कर्मकी क्रियामें यदि आत्माको निमित्तकर्ता माना जाये तो आत्माको परद्रव्यकी सर्व अवस्थाओंमें नित्य उपस्थित रहना पड़ेगा, अर्थात् नित्य-कर्तृत्वका प्रसंग आ जायेगा। आत्मद्रव्य यदि जगतकी क्रियामें निमित्तकर्ता हो तो जगतकी जो-जो क्रियायें हों उनमें आत्माको नित्य उपस्थित रहनेका प्रसंग आयेगा। यदि द्रव्य निमित्तकर्ता हो तो प्रत्येक क्रियामें द्रव्यको निमित्तकर्तारूपमें सदा उपस्थित रहना पड़ेगा। इसलिये परद्रव्यकी क्रियाका आत्मा निमित्तकर्ता भी नहीं है। ।।६।।

परसे पीछे हटना व भविष्यमें पर में नहीं जुड़ना - ऐसा जो उपदेश है। वह बतलाता है कि आत्मा स्वभावसे रागादिकका अकारक है। जैसे भगवान ज्ञायकस्वरुपी प्रभु रागको नहीं करता, वैसे ही परसे, निमित्तसे राग नहीं होता; परन्तु निज-लक्ष्य छोड़कर परका लक्ष्य करनेसे पर्यायमें राग होता है। जिसकी दृष्टि निजमें नहीं है, वह परका - निमित्तका -

लक्ष्य कर पर्यायमें राग करता है। जैसे भगवान आत्मा रागको नहीं करता वेसे ही निमित्त भी रागको नहीं करता, हाँ, निमित्तके लक्ष्यसे राग होता है। ।।७।।

प्रश्न :- एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं, अतः उसका उसके साथ कोई संबंध नहीं, फिर शास्त्र में निमित्त-नैमित्तिक संबंध का कथन क्यों?

उत्तर :- यह तो जिस समय नैमित्तिकभाव अपने से परिणमता है, उस समय निमित्त कौन था, उसका ज्ञान कराने को कथन शास्त्र में आता है। निमित्त निमित्त में और नैमित्तिक नैमित्तिक में परिणमन करता है, एकवस्तु दूसरी वस्तु में कुछ नहीं करती, दोनों वस्तुयें भिन्न ही हैं। एक वस्तु दूसरी वस्तु का करें भी कैसे ? ।।८।।

प्रश्न :- जब निमित्त वास्तविक कारण नहीं है, तो फिर उसे कारण कहा ही क्यों जाता है ?

उत्तर :- जिसे निमित्त कहा जाता है, उस पदार्थ में उस प्रकार की निमित्तरूप होने की योग्यता है, इसलिए अन्य पदार्थों से उसे भिन्न पहिचानने के लिए उसकी 'निमित्तकारण' संज्ञा दी गई है। ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, इसलिये वह पर को भी जानता है और साथ ही पर में निमित्तपने की योग्यता है -यह भी जानता है। ।।९।।

प्रश्न :- उपादान को अनुकूल निमित्त है और निमित्त को अनुरूप उपादान है, फिर भी एक दूसरे का कुछ करते नहीं - ऐसी स्थिति में निमित्त का काम क्या है?

उत्तर :- घड़ा बनने में हलवाई निमित्त नहीं होता, कुंभकार ही होता है - ऐसा बतलाना प्रयोजन है। ।।१०।।

प्रश्न :- घड़ा कुंभकार तो नहीं बनाता, तो क्या मृतिका से भी नहीं बनता ?

उत्तर :- घड़ा घड़े की पर्याय के षट्कारक से स्वतन्त्रतया बनता है, मिट्टीद्रव्य से भी नहीं, मिट्टीद्रव्य तो सदाकाल विद्यमान है। घड़ा, रामपात्र आदि पर्यायें नई-नई उत्पन्न होती है और वे पर्यायें अपने षट्कारक से स्वतन्त्र ही होती है। ।।११।।

प्रश्न :- चावल वर्षों तक रखा रहे पर पानी का निमित्त मिलेगा तभी पकेगा ?

उत्तर :- चावल जब पकेगा तब अपने से अपनी योग्यता से ही पकेगा और उस काल में पानी निमित्तरूप से सहज ही होगा ऐसा वस्तुस्वभाव है।

प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल में अपनी योग्यतानुसार ही होती है। उस काल में बाह्यवस्तु पर निमित्त का आरोप आता है। यदि एक द्रव्य अन्य द्रव्य की पर्याय करें तो वह अन्य द्रव्य ही कहाँ रहे। अनंत द्रव्य अस्तिरूप हैं। उन सबको भिन्न-भिन्न अस्तिरूप मानने से ही श्रद्धा-ज्ञान सच्चे होंगे। ।।१२।।

प्रश्न :- आत्मा में होनेवाले शुभाशुभभावों का मूल उपादान कौन है ?

उत्तर :- अशुद्ध उपादान से आत्मा स्वयं शुभाशुभभाव

में व्यापक होकर कर्ता होने से स्वयं (आत्मा) उनका कर्ता है। और जब शुद्ध उपादान से देखें तो पुण्य-पाप भाव आत्मा का स्वभावभाव न होने से और वह शुभाशुभभाव पुद्गल के लक्ष से होने से पुद्गल का कार्य है। पुद्गल उसमें व्यापक होकर कर्ता होता है। जब स्वभाव के ऊपर दृष्टि जाती है, तब ज्ञानी योग और उपयोग का (राग का) स्वामी न होने से उसका (राग का) कर्ता नहीं है, किन्तु ज्ञानी के ज्ञान में राग निमित्त होता है। ।।१३।।

प्रश्न :- प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतन्त्र और निरपेक्ष है, तो भी जब जीव को राग होता है, तभी परमाणु कर्मरूप से क्यों परिणमन करता है ?

उत्तर :- जीव को राग हुआ है, उससे परमाणु कर्मरूप से परिणमित नहीं हुआ है, किन्तु परमाणु के कर्मरूप से परिणमित होने का वही स्वकाल होने से जीव के राग की अपेक्षा बिना ही स्वतन्त्ररूपेण परमाणु कर्मरूप से परिणमन करता है। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध सहज है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। निमित्त-नैमित्तिक संबंध की सहजता का अज्ञानी को भान न होने से उसे दो द्रव्यों में कर्ता-कर्मपने का भ्रम होता है। प्रत्येक द्रव्य के परिणमन को पर की अपेक्षा ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र ही परिणमन कर रहा है। ।।१४।।

प्रश्न :- जीवद्रव्य अन्य द्रव्यों द्वारा उपकृत होता है-ऐसा शास्त्रों में कथन आता है। कृपया इसके अभिप्राय का

खुलासा कीजिए ?

उत्तर :- शास्त्रोल्लेख में व्यवहार के कथन में ऐसा आता है कि इस जीव का अन्य द्रव्य उपकार करते है। इसका अभिप्राय ऐसा है कि एक द्रव्य के कार्यकाल में दूसरे द्रव्य की पर्याय निमित्तमात्र, उपस्थितिमात्र धर्मास्तिकायवत् है - ऐसा ही इष्टोपदेश ग्रन्थ में कहा है तथा श्री समयसारजी की तीसरी गाथा में भी कहा है कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही गुण-पर्यायों को स्पर्श करता है, किन्तु दूसरे किसी भी द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, चुम्बन नहीं करता। एक द्रव्य की पर्याय में दूसरे द्रव्य की पर्याय का तो अत्यन्त अभाव है, ऐसी वस्तुस्थिति में भला एक दूसरे द्रव्य का क्या करे ? कुछ भी नहीं। ।।१५।।

प्रश्न :- द्रव्य ही उपादानकारण हो सकता है, पर्याय नहीं, यह मान्यता बराबर है कि नहीं ?

उत्तर :- पर्याय उपादानकारण न हो सके और मात्र द्रव्य ही उपादानकारण होवे यह मान्यता बराबर नहीं है। द्रव्यार्थिकनय से उपादानकारण द्रव्य है यह बात बराबर है, क्योंकि प्रत्येक पर्याय द्रव्य और गुण का ही परिणमन है और उससे इतना सूचित होता है कि यह पर्याय इस द्रव्य की है।

दृष्टान्त :- मिट्टी में घट बनने की योग्यता सदा है - ऐसा बतलाना द्रव्यार्थिकनय हे, अर्थात् मिट्टी में से ही हो सकता है, अन्य द्रव्य में से नहीं हो सकता। इसके विपरीत जब पर्यायार्थिकनय से कथन किया जाय, अर्थात् जब पर्याय

की योग्यता बतलाना हो, तब प्रत्येक समय की योग्यता उपादानकारण है और वह पर्याय स्वयं कार्य है। यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो कारण-कार्य एक ही समय में होता है। (देखो-तत्वार्थसार, मोक्ष अधिकार, गाथा ३५ तथा उसका अर्थ पृष्ठ ४०७ पर) इसका अर्थ ऐसा है कि प्रत्येक समय प्रत्येक द्रव्य में एक ही पर्याय होने की योग्यता है, किन्तु उससे पूर्व समय की अथवा उत्तर समय की पर्याय में वह योग्यता नहीं होती है। यह कथन पर्यायार्थिकनय से समझना। ।।१६।।

प्रश्न :- धर्म का निमित्त किसको होता है ?

उत्तर :- अज्ञानी जीव में तो धर्मभाव प्रकट नहीं हुआ है, इसलिए उसको तो धर्म का निमित्त कोई है ही नहीं, क्योंकि कार्य हुए बिना निमित्त किसका ? अज्ञानी के धर्मरूप कार्य अपने में हुआ नहीं है, अतः धर्म के निमित्त का भी उसको निषेध वर्तता है। ज्ञानी के अन्तरस्वभाव के भान से अपने भाव में धर्म प्रकट किया है, इसलिए उसको ही धर्म के निमित्त होते हैं, परन्तु उसकी दृष्टि में निमित्तों का निषेध वर्तता है और स्वभाव का आदर वर्तता है।

इस प्रकार निमित्त के कारण धर्म होता है - ऐसा जो मानता है, उसके तो धर्म के निमित्त ही नहीं होते। और जिसको धर्म के निमित्त होते हैं, ऐसा ज्ञानी निमित्त के कारण धर्म होता है, ऐसा मानता नहीं। ।।१७।।

प्रश्न :- क्या केवलज्ञानावरणीकर्म में इतनी शक्ति

है कि केवलज्ञान को न होने दें अथवा केवलज्ञान को रोके रखे ?

उत्तर :- कर्म तो आत्मा से भिन्न वस्तु है। केवलज्ञानावरणीकर्म केवलज्ञान को रोकता नहीं है। वहाँ तो कर्म-परमाणु के परिणमन की उत्कृष्ट शक्ति कितनी है, वह बताने के लिए केवलज्ञानावरणीकर्म से केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता - ऐसा निमित्त से कथन किया है, परन्तु केवलज्ञान कहीं उस कर्म के कारण रोका नहीं जाता है। जब जीव अपनी शक्ति की हीनपरिणमनरूप योग्यता से परिणमन करता है, तब कर्म को निमित्त कहा जाता है। ।।१८।।

प्रश्न :- अज्ञानी को तो निमित्त वास्तव में ज्ञेय भी नहीं है; ऐसा आप कहते हैं - वह कैसे ?

उत्तर :- ज्ञान बिना ज्ञेय किसका ? जैसे लोकालोक तो सदा से है; किन्तु जब केवलज्ञान प्रगट हुआ, तब लोकालोक ज्ञेय हुआ। केवलज्ञान होने से पहले लोकालोक ज्ञेय नहीं था, परन्तु स्वाश्रय से केवलज्ञान प्रगट होने पर लोकालोक ज्ञेय हुआ। उसी प्रकार नीचली दशा में भी यद्यपि रागादि और निमित्त वास्तव में ज्ञेय ही हैं, किन्तु सचमुच में उन्हें ज्ञान का ज्ञेय तब कहा जाये, जबकि 'मैं उन राग और निमित्तों से भिन्न हूँ' - इस प्रकार स्वसन्मुख होकर आत्मा का ज्ञान प्रगट करे तथा राग और निमित्त को परज्ञेयरूप से यथार्थ जाने।

रागादि और निमित्त, ज्ञान के कर्ता तो नहीं हैं, परन्तु

वास्तव में अज्ञानी को वे ज्ञान के ज्ञेय भी नहीं है, क्योंकि वहाँ स्वाश्रितज्ञान विकसित ही नहीं हुआ; अतः वह ज्ञान, राग में ही एकाकार रहने से, उसमें राग को ज्ञेय करने की शक्ति प्रगट नहीं हुई। राग से भिन्न पड़े बिना राग को ज्ञेय करने की शक्ति ज्ञान में प्रगट नहीं हुई। राग और निमित्त से भिन्न आत्मस्वभाव को जाने बिना राग को रागरूप और निमित्त को निमित्तरूप जानेगा कौन ? जाननेवाला ज्ञान तो राग और निमित्त की रुचि में अटका पड़ा है। राग और निमित्त की रुचि टले बिना और आत्मा की रुचि किये बिना निमित्त और व्यवहार का सच्चा ज्ञान नहीं होता। जब स्वाश्रय से ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके ज्ञानस्वभाव को ही स्वज्ञेय किया, तब स्व-परप्रकाशक ज्ञानसामर्थ्य विकसित हुई और निमित्तादि भी उसके व्यवहार से ज्ञेय हुये। ।।१९।।

प्रश्न :- अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को प्रथम जानने के लिए कहा है न ?

उत्तर :- उन अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय का लक्ष छोड़कर स्वयं को पहचाने तो भेदज्ञान हो और तभी उन अरहंत को निमित्त कहा जाए। ।।२०।।

प्रश्न :- समयसार की प्रथम गाथा में कहा कि अनन्त सिद्धों की तेरी पर्याय में स्थापना करता हूँ। यहाँ प्रश्न होता है कि अनन्त सिद्ध तो हमारे लिए परद्रव्य हैं, हमारी पर्याय में अभावरूप हैं - ऐसी स्थिति में उनका स्थापन किसप्रकार हो सकता है ?

उत्तर :- अनन्त सिद्ध पर्याय में भले अभावरूप हों, परन्तु उन अनन्त की प्रतीति पर्याय में आ जाती है, इसलिए अनन्त सिद्धों की स्थापना करना कहा है। जिस तरह अध्यवसान का त्याग कराने के लिए बाह्यवस्तु का त्याग कराया जाता है; उसी तरह अपने सिद्धस्वभाव का पर्याय में स्थापन कराने के लिए अनन्त सिद्धों का स्थापन कराने में आया है। जैसे बाह्यवस्तु अध्यवसान का निमित्त है, वैसे ही अपने सिद्धस्वरूप का लक्ष कराने में अनन्त सिद्ध निमित्त हैं। ।।२१।।

प्रश्न :- (कार्य) किसी समय उपादान से होता है और किसी समय निमित्त से होता है ऐसा स्याद्वाद करो न ?

उत्तर :- भाई ! कार्य हमेशा निज उपादान से ही होता है और निमित्त से कभी नहीं होता - यही स्याद्वाद है। निमित्त तो परवस्तु है, उसका परिणमन उसके कारण और अपना परिणमन अपने कारण-इसमें निमित्त का क्या लाभ है ? ।।२२।।

प्रश्न :- शरीर के गमन में आत्मा निमित्त तो है न ?

उत्तर :- भाई ! निमित्त तो है। परन्तु 'निमित्त है - इसका अर्थ क्या ?' क्या (आत्मा) निमित्त है इसलिये शरीर गमन करता है, परिणमता है ? तथा आत्मा की अनुभूति का परिणमन क्या शरीर के कारण होता है ? यह जो आत्मानुभूति हुई, वह क्या कर्म वर्गणाओं के अभाव के कारण हुई ? नहीं ऐसा है ही नहीं। प्रत्येक का परिणमन स्वाधीन है। पं. बनारसीदास जी ने कहा है न !

'उपादान बल जहाँ-तहाँ, नहीं निमित्त को दाव'

जहाँ स्व का बल (उपादान शक्ति) हैं वहाँ निमित्त क्या करे? स्व-पर का एकपना त्रिकाल असंभव है। इस कारण निमित्त है तो अपने में परिणमन होता है - ऐसा है नहीं। शरीर का परिणमन जीव के निमित्तपने कारण हुआ अथवा जीव की अनुभूति का परिणमन किसी निमित्त के कारण हुआ - ऐसा नहीं है। शरीर की परिणति शरीर में और आत्मा की परिणति आत्मा में है। आत्मा के निमित्त से शरीर की परिणति हुई - ऐसा नहीं है। नये कर्मोदय का अभाव है, अतः अनुभूति का परिणमन हुआ ऐसा भी नहीं है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। किसी समय निमित्त से किसी समय उपादान से कार्य हो यह स्याद्वाद नहीं, वरना फुँदड़ीवाद है, मिथ्यावाद है। तीन काल और तीन लोक में जड़-चेतन की क्रमबद्ध परिणति अपने-अपने उपादान से होती है; इसमें रंचमात्र भी पर की अपेक्षा नहीं है। उपादान का परिणमन सदा ही निमित्त से निरपेक्ष ही होता है। ।।२३।।

प्रश्न :- एक कार्य में दो कारण तो होते हैं न?

उत्तर :- दो कारण होते हैं, यह सही है। उनमें एक वास्तविक कारण है और दूसरा उपचरित - आरोपित (कारण) है। वास्तविक कारण तो एक ही है। 'निश्चय से स्व शक्तिरूप निज उपादान से कार्य होता है' - इस बात को लक्ष्य में रखकर निमित्त पर कारणपने का आरोप करके, दो कारणों से कार्य होता है - ऐसा प्रमाण ज्ञान दर्शाया है। निश्चय

कारण की बात रखकर ही प्रमाण ज्ञान अन्य निमित्त कारण को शामिल करता है, (ज्ञान कराता है।) निश्चय कारण को उड़ाकर नहीं। यदि निश्चयकारण का लोप करे तो प्रमाणज्ञान ही नहीं होता, दो कारण ही सिद्ध नहीं होते। ।।२४।।

प्रश्न :- निमित्त सहकारी है - ऐसा शास्त्रों में आता है न ?

उत्तर :- निमित्त सहकारी है अर्थात् साथ में (समकाल में) है, बस इतना ही। वह साथ है अतः सहकारी कहा गया है। सहकारी का अर्थ यह नहीं है कि वह कोई सहायता अथवा मदद करता है। यदि निमित्त, कार्य में सहायता - मदद करता हो तो धर्मास्तिकाय तो अनादि से ही विद्यमान है अतः (जीव-पुद्गल की) गति भी निरंतर होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। जब जीव स्वयं गति करता है तब धर्मास्तिकाय निमित्त है, अन्यथा नहीं। जैसे गति के काल में धर्मास्तिकाय निमित्त है वैसे ही (गतिपूर्वक) स्थिरता के काल अधर्मास्तिकाय तो विद्यमान ही है तब यह निमित्त क्यों नहीं हुआ। भाई ! तात्पर्य इतना ही है कि जब जीव-पुद्गल गतिरूप परिणमन करते हैं तब धर्मास्तिकाय निमित्त होता है और जब स्वयं गतिपूर्वक स्थिति करते हैं तब अधर्मास्तिकाय निमित्त होता है।

भाई ! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। ।।२५।।

प्रश्न :- यदि कार्य उपादान से ही होता है तो आपको प्रवचन करने की क्या आवश्यकता है ? किन्तु आप प्रवचन तो करते ही हैं, आप जब निमित्त का आश्रय लेते

हैं तभी तो दूसरों को समझा सकते है ? अतः निमित्त सिद्ध हो गया ?

उत्तर :- भगवान ! निमित्त है तो 'है' उसका निषेध कौन कर सकता है ? किन्तु निमित्त करता क्या है ? भाई ! शरीर के एक-एक रजकण का उस-उस काल में परिणमने का स्वभाव है, अतः वे अपने कारण से स्वकाल में परिणमन करते हैं। इसमें निमित्त का दाव है ही कहाँ? खेल में दाव (बाजी) आने पर ही तो पासे डाले जाते है, किन्तु यहाँ तो निमित्त का दाव ही नहीं आता। कहा है न -

'एक चक्र सों रथ चले, रवि को यहै स्वभाव'

जैसे सूर्य का रथ एक चक्र से चलता है वैसे ही प्रत्येक पदार्थ अपने परिणमन स्वभाव से ही परिणमता है। उसमें अन्य की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप शुद्धरत्नत्रय के परिणाम भी पर निरपेक्ष हैं। श्री नियमसारजी की दूसरी गाथा की टीका में लिया है कि 'निज परमात्म तत्व का सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान अनुष्ठान रूप शुद्धरत्नत्रयात्मक मार्ग परम निरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है।'

इसप्रकार निश्चय मोक्षमार्ग को व्यवहार अथवा निमित्त की अपेक्षा है ही नहीं - यह परम वीतराग के शास्त्र का कथन है।

।।२६।।

प्रश्न :- शास्त्र पढ़ने से अर्थात् निमित्त से ज्ञान नहीं होता तो आप किसलिये शास्त्र पढ़ते हैं ? शास्त्र तो निमित्त है-परद्रव्य है, तथा समयसार ही क्यों पढ़ते हैं, अन्य

शास्त्र क्यों नहीं ? अतः निमित्त में कुछ विशेषता तो है ही ?

उत्तर :- भगवान ! निमित्त से कुछ नहीं होता। भाई ! तुझे निमित्त से होता है - ऐसा क्यों सूझता है ? निमित्त से लाभ होना तो दूर रहो, यहाँ तो यह कहते हैं कि 'जब तक निमित्त का लक्ष्य है तब तक विकल्प है और वे विकल्प पुद्गल के परिणाम स्वरूप हैं क्योंकि अन्तर लक्ष्य के काल में ये विकल्प परिणाम अनुभव में नहीं आते। अहा..हा...! जो सुना है वह अपनी ज्ञान की पर्याय है और वह पर्याय स्वयं से ही हुई है, निमित्त अथवा वाणी के कारण नहीं। तथापि निर्मल पर्याय की अन्तर्मुखता में वह परलक्ष्यी ज्ञान की पर्याय भी पररूप में रह जाती है। भाई ! यह तो जिसे अन्दर की बात समझना हो उसके लिये है। इसे समझने के लिये भी कितना पुरुषार्थ चाहिये। **।।२७।।**

प्रश्न :- आत्मा को कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध तो है न ?

उत्तर :- नहीं ! जिसे अपने स्वभाव के साथ ही 'स्व-स्वामित्व संबंध प्रगट हुआ, एक ज्ञायकभावपने - एकत्वपने ही जिसका परिणमन हुआ - ऐसे धर्मी पुरुष का, कर्म के साथ के निमित्त-नैमित्तिक संबंध का विच्छेद होता जाता है, जिसे स्वभाव की दृष्टि नहीं हुई - ऐसा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव ही कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंधरूप परिणमन करता है। जिसे निज स्वभाव - एक ज्ञायक भाव के साथ एकपना हुआ, ज्ञायक के साथ ही एकाकार होकर जो परिणमित

हुआ उसको कर्म का निमित्तपना छूटता जाता है। साधकजीव को जैसे-जैसे निज स्वभाव में एकता का परिणमन दृढ़ होता जाता है वैसे-वैसे ही कर्म का संबंध छूटता जाता है और क्रमशः पूर्णभाव को प्राप्त होकर कर्म के संबंध रहित हो जाता है, सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है। ।।२८।।

प्रश्न :- निमित्त मददरूप - सहायक तो होता है न ?

उत्तर :- भाई ! मददरूप होता है, - इसका अर्थ क्या ? सहारा देता है, सहारा अर्थात् क्या ? जब आत्मा गतिरूप परिणमित होता है तब धर्मास्तिकाय निमित्त है। धर्मास्तिकाय तो ऐसा का ऐसा ही है तो उसने किया क्या ? परन्तु निमित्त अपेक्षा से यह कहा जाता है कि धर्मास्तिकाय के कारण गति हुई। किन्तु क्या धर्मास्तिकाय है इस कारण जीव गतिरूप परिणामित होता है ? यदि ऐसा ही हो तो धर्मास्तिकाय तो सदा है अतः जीव का गतिरूप कार्य भी सदा होना चाहिये। परन्तु ऐसा तो होता नहीं। अतः सिद्ध हुआ कि जब जीव स्वतः गतिरूप परिणाम को उत्पन्न करता है तब धर्मास्तिकाय पर निमित्तपने का आरोप आता है। तात्पर्य यह है कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य की पर्याय कर ही नहीं सकता।

।।२९।।

प्रश्न :- भले ही निमित्त कुछ करता न हो पर कराता तो है न ?

उत्तर :- नहीं, कदापि नहीं। यह तो मात्र बोलने में

आता है। स्वयं विकारपने परिणमित हो तो पर द्रव्य-निमित्त परिणमाता है - ऐसा आरोपित कथन होता है। अन्यथा जड़ कर्म को कहाँ खबर है कि ऐसा परिणमना या वैसा परिणमाना। परन्तु यह जीव जड़ निमित्त के लक्ष्य से परिणमता है तो इसे विकार होता है और पराश्रयपने न परिणमे अर्थात् स्वलक्ष्य पूर्वक परिणमन करे तो परिणमन निर्विकार - शुद्ध होता है।

।।३०।।

प्रश्न :- निमित्त को मिलाना तो पड़ता है न ?

उत्तर :- बापू ! निमित्त को कौन मिलाये ? भाई ! तुम तो चैतन्य सूर्य हो न ! तो यह चैतन्यसूर्य क्या करता है ? जो होता है उसे अपने में अर्थात् निज चैतन्य स्वभाव में रहकर जानता है-ऐसी मान्यतावाले का संसार कायम नहीं रह सकता।

।।३१।।

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

१०

क्रमबद्धपर्याय

क्रमबद्धपर्याय के सिद्धांत से मूल तो अकर्त्तापना सिद्ध करना है। जैनदर्शन अकर्त्तावाद है। आत्मा परद्रव्यका कर्त्ता तो है ही नहीं। राग का भी कर्त्ता नहीं और पर्याय का भी कर्त्ता नहीं है। पर्याय उसके के जन्मक्षण में षट्कारक से स्वतंत्र जो होने वाली हो वही होती है। किन्तु यह क्रमबद्ध का निर्णय पर्याय के लक्ष से नहीं होता। क्रमबद्ध का निर्णय करने जाय तो शुद्ध चैतन्यज्ञायकधातु उपर दृष्टि जाती है। तब जाननेवाली जो पर्याय प्रगट होती है वही क्रमबद्धपर्याय को जानती है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय स्वभाव सन्मुख के अनन्त पुरुषार्थपूर्वक होता है, क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का तात्पर्य वीतरागता है। यह वीतरागता जब वीतराग स्वभाव उपर दृष्टि जाती है तब पर्याय में प्रगट होती है। श्रीसमयसार गाथा ३२०

में कहते हैं की ज्ञान बंधमोक्ष का कर्ता नहीं। परंतु जानता ही है। आहा..हा...! मोक्ष को जानता है, मोक्ष का कर्ता है - ऐसा कहा नहीं। अपने में हुए क्रमसर परिणाम को कर्ता है ऐसा नहीं किन्तु जानता है ऐसा कहा। गजब बात है। ।।१।।

अरे भाई ! तू विचार तो कर कि तू कौन है? तू ज्ञानस्वरूप है। जो हो उसे जान ! तू कर्ता नहीं, ज्ञाता है। क्रमबद्ध का विचार करे तो सब झगड़े मिट जाये। स्वयं परद्रव्य का कर्ता तो नहीं है, राग का कर्ता तो नहीं है, निर्मल पर्याय का भी कर्ता नहीं है, अकर्ता स्वरूप है। ज्ञातास्वभाव की ओर ढल जाने में ही अकर्तृत्व का महान पुरुषार्थ है। वास्तव में पर्याय को द्रव्योन्मुख करना यह एक ही मुख्य वस्तु है, यही सचमुच जैनदर्शन है। अहा..हा...! जैनदर्शन बहुत कठिन ! किन्तु अपूर्व है और उसका फल महान है। सिद्धगति उसका फल है। पर का कर्ता तो नहीं है; राग का कर्ता तो नहीं है किन्तु निर्मल पर्याय का कर्ता भी नहीं है; क्योंकि पर्याय अपने षट्कारक से स्वतंत्र परिणमित होती है। उसमें भाव नाम की एक शक्ति है उसके कारण पर्याय होती ही है, करूँ तो होती है ऐसा नहीं है। अहा..हा...! भाई ! मार्ग कठिन है, अचिन्त्य है, अगम्य है, अगम्य को गम्य बना दे ऐसा अपूर्व मार्ग है। पर्याय क्रमानुसार होती है, द्रव्य-गुण भी उसके कर्ता नहीं हैं - ऐसा कहकर अकेली सर्वज्ञता सिद्ध की है। अकर्तापना अर्थात् ज्ञातापना सिद्ध किया है।।२।।

जो पर्याय होनेवाली हो उसको करना क्या ? और जो न होनेवाली हो उसे भी करना क्या ? ऐसा निश्चय करते ही कर्तृत्वबुद्धि टूटकर स्वभाव सन्मुखता हो जाती है। सर्वज्ञ त्रिकाल को जानने-देखनेवाले हैं, ऐसा मैं भी तीनकाल, तीनलोक को जानने-देखनेवाला ही हूँ। ऐसा त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव का निश्चय करना यही सम्यग्दर्शन है। ।।३।।

श्रोता :- जीव राग-द्वेष की पर्याय को न बदल सके पर श्रद्धा की पर्याय को तो बदल सकता है न ?

पूज्य गुरुदेव :- सब पर्यायों को बदल सकता है, नहीं बदल सकता ऐसा निर्णय करने जाए तो वहाँ दृष्टिस्वभाव उपर जाती है। और सब पर्यायों की दिशा ही बदल जाती है। `ज्ञान स्वभाव हूँ' - ऐसा निर्णय किया, वहाँ सब तो जैसा है वैसा ही है। बदलना न बदलना क्या ? जैसा है वैसा है। नियत का निश्चय करने जाए वहाँ स्वभाव का पुरुषार्थ साथ ही है और राग भी मंद हो जाता है। `ज्ञानस्वभाव हूँ'; ऐसा निर्णय हो गया, पीछे सब जैसा है वैसा है। ग्रहण करने योग्य सब ग्रहण हो गया, छूटने योग्य सब छूट गया। ज्ञाता का पुरुषार्थ चालु ही है। राग घटता जाता है, इसलिए पूर्ण वीतरागता हो जायेगी। ।।४।।

क्रमबद्ध में पुरुषार्थ उड़ जाता है-ऐसा अज्ञानी को डर लगता है। पर वास्तव में तो क्रमबद्ध को स्वीकार करनेवाले की दृष्टि स्वभाव उपर जाती है। इसमें ही पुरुषार्थ है, क्रमबद्ध मानने पर बदलने की दृष्टि छूट जाती है। सामान्यद्रव्य उपर

दृष्टि जाती है यही पुरुषार्थ है। क्रमबद्ध को नक्की करने जाये वहाँ पर का कुछ कर दूँ, व्यवहार से निश्चय होता है ये सब उड़ जाता है। अंतर में स्थिरता का मार्ग मिलता है। ।।५।।

भगवान सर्वज्ञ के केवलज्ञान में तीनकाल-तीनलोक की पर्याय प्रत्यक्ष जानने में आती है। जैसे केवलज्ञान में तीनलोक की पर्याय जानने में आती है उसी प्रकार पदार्थों में क्रमबद्धपर्याय होती है। केवलज्ञान ने जाना इसलिए नहीं परन्तु पदार्थों की पर्याय स्वयं से स्वकाल में उसी प्रकार होती है और उसी को सर्वज्ञ जानते हैं। आहा..हा...! परद्रव्य का करने की बात तो नहीं परन्तु अपनी अशुद्ध या शुद्ध पर्याय स्वकाल में क्रमबद्ध जो होनेवाली हो। वही होती है, इसलिए अपनी ही पर्यायों को आगे-पीछे करना भी नहीं रहा। मात्र जैसी होती है वैसा ही जानना रहा, जैसे सर्वज्ञ ज्ञाता हैं वैसा धर्मी भी ज्ञाता हो गया। क्रमबद्ध के निर्णय का तात्पर्य अकर्तृत्वरूप वीतरागता है। ये वीतरागता अनन्त पुरुषार्थ से द्रव्य उपर दृष्टि जाने से होती है। आहा..हा...! आत्मा सर्वज्ञ स्वभावी है। ।।६।।

परमाणु में रंगगुण त्रिकाली है। इसकी पर्याय पहले समय में काली हुई, वह बदल कर दूसरे समय में लाल, सफेद, पीली हो जाती है उसका कारण कौन ? जो रंगगुण के कारण हो तो रंगगुण तो कायम है फिर परिणमन में ऐसी विचित्रता क्यों ? वास्तव में तो उस समय की पर्याय अपनी षट्कारक से स्वतंत्र हुई है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य

की पर्याय अपने-अपने समय में स्वतंत्र होती है। आहा..हा...! स्वंतत्रता की बातें बहुत सूक्ष्म हैं। ।।७।।

जैसे माला में मोती जिस स्थान पर है उसी स्थान पर है। आगे-पीछे हो जाए तो माला एकरूप अखंड नहीं रहती। उसी प्रकार जिस समय जिस जन्मक्षण में जो क्रमबद्ध पर्याय होनेवाली हो वही होती है। दूसरे समय की पर्याय पहले समय हो, पहले समय की पर्याय पीछे हो ऐसा है ही नहीं। जिस समय जो पर्याय होनेवाली हो उसे काललब्धि कहने में आता है। प्रवचनसार में उसे जन्मक्षण कहा है तथा प्रवचनसार की ९९ गाथा में अपने-अपने अवसर में पर्याय होती है - ऐसा पाठ है। सर्वज्ञ भगवान भी अपनी क्रमसर जो पर्याय होनेवाली हो उसके कर्ता नहीं, जाननेवाले ही है। ।।८।।

श्रोता :- क्रमबद्ध में क्रमबद्ध की विशेषता है या द्रव्य की ?

पूज्य गुरुदेव :- क्रमबद्ध में ज्ञायक द्रव्य की विशेषता है। क्रमबद्ध में अकर्तापना सिद्ध करके ज्ञायकपना बताया है। ।।९।।

त्रैकालिक ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करने से परिणति के षट्कारक की क्रिया का लक्ष छूट जाता है। पर्याय के षट्कारक की प्रक्रिया से पार हुई जो त्रैकालिक निर्मल अनुभूति सो मैं हूँ- ऐसा लक्ष करने से सम्यग्दर्शन होता है। विकार के षट्कारक तो दूर रहे, किन्तु ज्ञान की पर्याय के षट्कारक

के परिणमन का लक्ष भी छोड़कर उससे भिन्न हूँ-ऐसी दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। ।।१०।।

प्रत्येक पदार्थ की पर्याय क्रमबद्ध होती है। प्रत्येक जीव या जड़ की पर्याय का जो जन्मक्षण है उसी समय वह पर्याय क्रमबद्ध होती है। उसको इन्द्र, नरेन्द्र या जिनेन्द्र भी बदलने में समर्थ नहीं आहा..हा...! जीव मात्र ज्ञाता है यहाँ अकर्तापना की उत्कृष्टता बताना है कि ईश्वर जगत का कर्ता है, ये बात तो झूठी है ह। और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ कर सकता है, ये भी झूठ है और प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायों को - जो उनके जन्मक्षण-स्वकाल में क्रमबद्ध होनेवाली हो उसको आगे-पीछे कर सके - ऐसा भी नहीं है। जिस समय जो पर्याय क्रमबद्ध होनेवाली हो उसको अन्य निमित्त की अपेक्षा तो है ही नहीं पर स्वयं के द्रव्य की भी अपेक्षा नहीं ऐसी वस्तु की स्थिति है। ।।११।।

क्रमबद्ध पर्याय से वास्तव में जिसको अकर्तापना ख्याल में आया हो अर्थात् कि जो करनेपने के दुःख से थक चुका हो वह क्रमबद्ध ख्याल में आनेपर पर के कर्तापने से खिसककर आत्मा तरफ आता है। जिस समय जो पर्याय होनेवाली हो वही होती है। तीर्थंकर को भी जो पर्याय होनेवाली हो वही होती है उसको आगे-पीछे कर सकते नहीं। ऐसा क्रमबद्ध ख्याल में आने पर जो कर्तापने की बुद्धि से थक गया है, वह पर के कर्तापने के अभिमान से थक कर आत्मा तरफ झूकता है, उसको सम्यग्दर्शन होता है। संसार से वास्तव

में थके हुए को ही सम्यग्दर्शन होता है। उसको ऐसा होता है कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। मतलब मैं कुछ करूँ और उससे मुझे दूसरा कुछ मिले - ऐसी अपेक्षा नहीं। क्रमबद्ध की दृष्टिवाले को प्रत्येक द्रव्य की पर्याय स्वयं क्रमबद्ध होती है - ऐसा उसको बैठ गया है। ।।१२।।

प्रत्येक पदार्थ की पर्याय क्रमबद्ध होती है अर्थात् परद्रव्य की पर्यायों को तो बदलना रहा नहीं। परद्रव्य की पर्यायों को तो बदल सकता ही नहीं है। परन्तु अपनी पर्याय जो क्रमसर होनेवाली हो वही होती है। इसलिए उनको भी बदलना रहा नहीं। जो पर्याय क्रमसर होती है। उसको जानना ही रहा आहा..हा...! भगवान सर्वज्ञ ने देखा। ऐसा प्रमाण करके द्रव्य की तीनकाल की पर्याय जिस काल जो होनेवाली हो वही होती है। भगवान ने देखा है, इसलिए होती है - ऐसा नहीं पर प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपने से ही क्रमबद्ध जो होनेवाली हो वही होती है। उनको दूसरा तो बदल सकता ही नहीं ह। पर स्वयं भी अपने में हुए क्रमसर परिणाम को बदल सकता नहीं है, मात्र जान सकता है। क्रमबद्ध के निर्णय करने पर दृष्टि द्रव्य उपर जाती है, तभी क्रमबद्ध पर्याय का सच्चा निर्णय होता है। पर्यायक्रमकी ओर देखनेसे क्रमबद्धका सच्चा निर्णय नहीं हो सकता। ज्ञायककी ओर ढलता है तब ज्ञायकका सच्चा निर्णय होता है और उस निर्णयमें अनंत पुरुषार्थ आता है। ज्ञानके साथ आनंदका स्वाद आये तो उसे सम्यग्दर्शन हुआ है। सर्वज्ञने देखा वैसा होता है, पर्याय क्रमबद्ध होती

है उस निर्णयका तात्पर्य ज्ञानस्वभाव पर दृष्टि करना है। आत्मा कर्ता नहीं है किन्तु ज्ञाता ही है। ।।१३।।

जगत की जो वस्तु जिस काल में जैसी परिणमित होना हो वह वैसी ही परिणमित होगी; उसका तो जीव कर्ता नहीं है, परन्तु जो पर्याय होती है - निर्मल पर्याय होती है, उसका भी कर्ता नहीं है। वह पर्याय भी क्रमबद्ध होती है, उसका कर्ता भी ध्रुवतत्व नहीं है। स्वयं ज्ञानस्वरूप है ऐसी दृष्टि होने पर, उस काल में बाह्य में जगत के जो परिणाम होते हैं वे क्रमबद्ध होते हैं - ऐसा वह जानता है और वह जानने की पर्याय भी क्रमबद्ध होती है, उसका भी त्रिकाली जीव कर्ता नहीं है। जगत के परिणाम-क्रिया तो क्रमबद्ध हैं ही, किन्तु स्वरूप की दृष्टि करने पर जगत के परिणाम को क्रमबद्ध जाननेवाली ज्ञान की जो पर्याय होती है, वह भी क्रमानुसार है। ऐसा सम्यग्ज्ञानी जानता है। ।।१४।।

जिस परमाणु की पर्याय जिस काल, जिस क्षेत्र में उसके जन्म-क्षण में षट्कारक से परिणमती है उसे कौन करेगा और कौन बदलेगा ? इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य का स्वतंत्र परिणमन है। वास्तव में तो स्वद्रव्य, परद्रव्य का स्पर्श ही नहीं करता। आत्मा शरीर को छूता ही नहीं है, हाथ-पैर को नहीं हिलाता। शरीर भी जमीन का स्पर्श नहीं करता। ऐसी वस्तु की स्वतंत्रता है। ऐसी स्वतंत्रता की हाँ कहने से उसकी लत लगती है और वैसी हालत हो जाती है। ।।१५।।

एक समय की पर्याय सत् है, स्वतंत्र है, जिस काल जो पर्याय होना है वह पर्याय अपने षट्कारक की क्रिया से स्वतंत्र होगी, परन्तु उसका निर्णय कैसे हो ? उस निर्णय का तात्पर्य क्या ? तो कहते हैं कि वीतरागता तात्पर्य है। वह वीतरागता कब होती है ? कि उसीका लक्ष एवं दृष्टि पर्याय के कर्तृत्व की बुद्धि से, पर्याय को परिवर्तित करने की बुद्धि से हटकर त्रैकालिक ध्रुव ज्ञायक पर जाये निःसंदेह तब निर्णय होने पर परिणाम में अंशतः निर्मलता एवं वीतरागता होती है। यह सच्चे निर्णय का फल और तात्पर्य है। अहा..हा...! क्या बात है वीतराग वाणी की ! चारों ओरसे एक सत् ही उपस्थित होता है। **।।१६।।**

पहली शर्त यह है कि मुझे एक आत्मा के सिवा कोई वस्तु नहीं चाहिये ऐसा दृढ़ निश्चय होना चाहिये। दुनिया की कोई वस्तु, धनसम्पत्ति, प्रतिष्ठा आदि कुछ नहीं, एक आत्मा की ही आवश्यकता है। ऐसा दृढ़ निश्चय होना चाहिये। जिसे ऐसा दृढ़ निश्चय हो उसके चाहे जितने प्रतिकूल संयोगों में भी तीव्र और मजबूत पुरुषार्थ आनेपर छूटना होता है। **पुरुषार्थ के बिना प्राप्ति नहीं है।** क्रमबद्ध के अनुसार ही आत्मा प्राप्त होगा। परन्तु क्रमबद्ध का निर्णय करनेवाले की दृष्टि ज्ञायक की ओर ही जाती है और तब क्रमबद्ध की सच्ची श्रद्धा होती है। तथा दूसरी बात यह है कि एक द्रव्य की पर्याय को पर के साथ कोई संबंध नहीं है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता। कर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करते,

आत्मा शरीर का स्पर्श नहीं करता। अहा..हा...! ऐसा निर्णय हो तभी उसकी दृष्टि सच्ची होती है। **।।१७।।**

मैं दूसरे जीव को मार सकता हूँ, बचा सकता हूँ, दूसरे जीवों को भोजन की अनुकूलता दे सकता हूँ, सुखी कर सकता हूँ, दुःखी कर सकता हूँ, यह मान्यता महापाप दृष्टि है। एक तिनके के दो टूकड़े कर सकता हूँ, हाथ की ऊँगली हिला सकता हूँ, वाणी बोल सकता हूँ, रोटी के टूकडे कर सकता हूँ, इस प्रकार परद्रव्य की क्रिया का कर्ता मैं हूँ - ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। ऐसे जीव त्रिलोक में कुछ भी बाकी रखे बिना सब पदार्थों में मैं कर सकता हूँ - ऐसी मान्यता से मिथ्यात्वरूप महापाप का बंध करते हैं। क्योंकि अज्ञानी जगत की कोई भी वस्तु को अपनी माने बिना रहता नहीं। **।।१८।।**

श्रोता :- सम्यग्दर्शन होनेपर सब व्यवस्थित है ?

पूज्य गुरुदेव :- ऐसे ही सब व्यवस्थित ही है, परन्तु सम्यग्दर्शन होनेपर उसके निर्णय में आ जाता है कि सब व्यवस्थित ही है। श्री समयसार गाथा ३०८-३११ में ऐसा सिद्ध किया है कि जीव अजीव का कर्ता नहीं है, परन्तु वास्तव में तो जीवद्रव्य अपनी पर्याय का भी कर्ता नहीं है, क्योंकि द्रव्यस्वभाव जब दृष्टि में आ गया तो बस ! सब कुछ आ गया।

द्रव्य में उत्पाद्-व्यय-ध्रुव नाम की शक्ति है उसके कारण पर्याय उत्पन्न होगी; होती है उसे करना कहाँ है ? और ज्ञानगुण

की पर्याय भी क्रमबद्ध में जिस प्रकार के रागादि होंगे उन्हें उस प्रकार से जानती है, उसी प्रकार से क्रमबद्ध में आयेंगे। वह जो पर्याय है उसका भी कर्ता द्रव्य नहीं है। पर्याय उसी समय होगी ही, उस समय आयेगी ही, उसका ज्ञानी कर्ता नहीं है, पर्याय जिस काल होना है तब होती ही है। उस पर्याय का कर्ता पर्याय है। जो परिणमता है वह कर्ता है, द्रव्य कहीं परिणमित नहीं होता इसलिये कर्ता नहीं है।

भावशक्ति के कारण प्रत्येक गुण की पर्याय भवनरूप होगी ही, पर्याय होती ही है; होती है उसे करना कहाँ है ? वास्तव में तो द्रव्यपर दृष्टि गई - द्रव्य का स्वीकार हुआ कि बस ! पर्याय प्राप्त हुई और वह भी उसका प्राप्त होने का काल था। वह पर्याय का स्वकाल था, उसका भी कर्ता नहीं है क्योंकि भावशक्ति के कारण भवन तो है; तब फिर जो है उसे करना क्या ?

अहा..हा...! दृष्टि द्रव्योन्मुख हुई पश्चात् जो होना है वह होता है, उसे जानता है, वह जानने का कार्य स्वतंत्र होता है। **इसे जानना ऐसा भी नहीं है;** भावशक्ति है वह पर्याय के बिना नहीं होती। गुणी को पकड़ा है उसके जो भवन पर्याय होती है उसे करना कहाँ है ? थोड़ी सूक्ष्म बात आ गई है, यह तो अंतर से आती है। नया-नया होता है, वह जानने की पर्याय भी उस काल होना हो वह होती है; क्योंकि प्रत्येक गुण की वर्तमान पर्याय भावशक्ति के कारण उस काल होती ही है। होती है उसे करना क्या ? वस्तु का स्वरूप

ऐसा ही है। ।।१९।।

श्रद्धा ऐसी होती है जो राग को कम करे, ज्ञान ऐसा होता है जो राग को कम करे, चारित्र ऐसा होता है जो राग को कम करे, क्रमबद्ध की श्रद्धा भी उसे कहते हैं जो राग को कम करे। क्रमबद्ध की श्रद्धा में अकर्तापन आता है। जो होता है उसे करेगा क्या ? जो होता है उसे जानता है। जाननहार रहने से, ज्ञाता रहने से राग टलता जाता है और वीतरागता बढ़ती जाती है। वीतरागता में वृद्धि ही शास्त्रों का तात्पर्य है। ।।२०।।

एक कहता है कि क्रमबद्धपर्याय हो तब तो नियत हो जाता है, दूसरा कहता है कि क्रमबद्ध में हमें जो राग आना था वह आया। वे दोनों भूले हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। उलटा मिथ्यात्व को पुष्ट करके दोनों ने निगोद का मार्ग लिया है। जिसे क्रमबद्ध की यथार्थ प्रतीति हुई है उसकी दृष्टि पर्याय उपर से हटकर आनंदमय आत्मा के उपर लगी है, वह क्रमबद्ध में जो राग आता है उसका ज्ञाता रहता है। ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टिपूर्वक जो राग आता है वह राग दुःखरूप लगता है, उसने क्रमबद्ध को यथार्थ माना है। आनंद के साथ दुःख की तुलना करता है कि अरे ! यह राग दुःखरूप है - इस प्रकार क्रमबद्ध को माननेवाला आनंद की दृष्टिपूर्वक राग को दुःखरूप जानता है, उसे राग की मिठास उड़ गई है। जिसे राग में मिठास बनी हुई है और **पहले अज्ञान में राग को टालने की चिन्ता थी** वह भी क्रमबद्ध.....क्रमबद्ध

करके मिट गई है उसे तो मिथ्यात्व की पुष्टि बढ़ी है। मिथ्यात्व को तीव्र किया है। **'राग मेरा नहीं है' - ऐसा कहता है और आनंदस्वरूप की दृष्टि नहीं है तो उसने मिथ्यात्व को बढ़ाया है।** भाई ! यह तो कच्चे पारे जैसा वीतराग का सूक्ष्म रहस्य है। अंतर से पचावे तो वीतरागता की पुष्टि हो और उसका रहस्य न समझे तो मिथ्यात्व का पोषण करे। ।।२१।।

जीव की जिस समय जो पर्याय होनेवाली हो वही होती है और जो पर्याय होती है उसका वह उत्पत्ति का काल है। वह जन्मक्षण है, काललब्धि। है जो पर्याय होती है उसको व्यय की अपेक्षा नहीं है, निमित्त की अपेक्षा नहीं है और द्रव्यगुण की भी अपेक्षा नहीं है, पर्याय के षट्कारको द्वारा वह पर्याय स्वतंत्र उत्पन्न होती है। इसलिए तेरी जिस समय जो पर्याय होती है उसका तू कर्ता क्यों होता है ? एक पीछे एक क्रम से और निश्चय से जो पर्याय होनेवाली हो वही होती है, दूसरे समय जो पर्याय होनेवाली हो वही होती है। ऐसा अनादिअनन्त क्रमसर निश्चितपने पर्याय होती है। ।।२२।।

श्रोता :- सर्व गुणोंका कार्य व्यवस्थित ही है, तो फिर उसे पुरुषार्थ करना कहाँ रहा ?

पूज्य गुरुदेव :- जिसे क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में पुरुषार्थ भासित नहीं होता उसे व्यवस्थित बैठा ही कहाँ है ?

श्रोता :- उसे व्यवस्थित नहीं बैठा ऐसा उसका परिणमन

भी व्यवस्थित ही है। वह व्यवस्थित का निर्णय न कर सके ऐसा उसका परिणमन व्यवस्थित ही है, **तो फिर उससे निर्णय कर - ऐसा क्यों कहा जाता है ?**

पूज्य गुरुदेव :- उसका परिणमन व्यवस्थित ही है ऐसी उसे कहाँ खबर है ? व्यवस्थित परिणमन है ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है, परन्तु उसे सर्वज्ञ का कहाँ निर्णय है ? पहले वह सर्वज्ञ का तो निर्णय करे ? फिर व्यवस्थित की खबर पड़ेगी।

श्रोता :- व्यवस्थित परिणमनशील वस्तु है, ऐसा भगवान का कहा हुआ उसे बैठा है।

पूज्य गुरुदेव :- नहीं। सर्वज्ञ भगवान का भी सच्चा निर्णय उसे कहाँ है ? प्रथम सर्वज्ञ का निर्णय हुए बिना व्यवस्थित का निर्णय कहाँ से आया ? ऐसे ही ऐसे ज्ञान की बातें करे वह नहीं चल सकता, पहले सर्वज्ञ का निर्णय तो करो। द्रव्य का निर्णय किये बिना सर्वज्ञ का निर्णय भी यथार्थ नहीं हो सकता। ।।२३।।

ज्ञानी को जो शुभभाव आता है वह अशुभ से बचने के लिये आता है, ऐसा जो कहा जाता है, वह तो लोगों को थोड़े संतोष के लिये कहा जाता है। **वास्तव में तो शुभराग उसके आने के काल में ही आता है।**

श्रोता :- तब फिर प्रायश्चित क्यों किया जाता है ?

पूज्य गुरुदेव :- वह सब कहने की बाते हैं, कथन की पद्धति है। वास्तव में तो ऐसा विकल्प आने का काल था वही आया है और वाणी भी ऐसी ही निकलनी थी वही

निकली है। बहुत सूक्ष्मता में जायें तो वास्तव में शुभ विकल्प एवं प्रायश्चित की वाणी निकलना तथा गुरुवाणी निकलना वह पुद्गल का स्वाभाविक कार्य है, आत्मा का कार्य नहीं है। आत्मा तो मात्र ज्ञानस्वभावी है। ।।२४।।

भगवान पूर्णानन्द का नाथ कि जिसका लक्ष करने से, राग की अपेक्षा बिना निरपेक्षरूप से स्वतंत्ररूप से षट्कारकों से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं। अरे ! रागादि विकार या मिथ्यात्व के परिणाम हों वे भी षट्कारकों के परिणाम से स्वतंत्ररूप से होते हैं। मिथ्यात्वभाव होते हैं उसमें कर्म के कारकों की अपेक्षा नहीं है। मिथ्यात्व का परिणमन षट्कारकों के परिणमन द्वारा स्वतंत्ररूप से होता है। मिथ्यात्वभाव है वह विकारी भाव है, वह भी अपने षट्कारकों से होता है, उसे कर्म की या निमित्त की अपेक्षा नहीं है। जब विकार की पर्याय भी, जो कि आत्मा का स्वभाव नहीं है, तथा कोई ऐसी शक्ति नहीं है कि विकार को करे - तथापि-स्वतंत्ररूप से अपने एक समय के षट्कारकोंसे होती है, तो फिर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चय मोक्षमार्ग की जो निर्मल पर्याय है, वह भी स्वयं एक समय के षट्कारकों से परिणमन होकर ही उत्पन्न होती है। जिस निश्चय मोक्षमार्ग को त्रिकाल शुद्ध द्रव्य की भी अपेक्षा नहीं है वह व्यवहाररत्नत्रय के राग से हो ऐसा कैसे हो सकता है ? ।।२५।।

वास्तव में तो मोक्ष की पर्याय अपने षट्कारकों से उत्पन्न हुई है। विकारी पर्याय भी अपने षट्कारकों से उत्पन्न

होती है, क्योंकि द्रव्य-गुण में विकार नहीं है तथापि पर्याय में विकार होता है, वह पर्याय अपनी स्वतंत्रता प्रगट करती है और उस स्वतंत्रता की प्रगटता का तात्पर्य वीतरागता है, तथा वह वीतरागता द्रव्य पर दृष्टि जाने से होती है। सम्यग्दर्शन की पर्याय का उस काल जन्मक्षण है, वह अपने षट्कारकों से होती है, उसे द्रव्य-गुण की भी अपेक्षा नहीं है। आज भगवान महावीर मोक्ष पधारे तब मोक्ष-पर्याय की उत्पत्ति का काल था, उसे मोक्षमार्ग के कारण हुई कहना सो व्यवहार है, क्योंकि मोक्षमार्ग का व्यय होता है; व्यय वह कारण कैसे हो सकता है ? उत्पाद का कारण उत्पाद स्वयं है।

।।२६।।

श्रोता :- पर्याय पर्याय से स्वतंत्र होती है तो द्रव्य के कारण क्यों कहा जाता है ?

पूज्य गुरुदेव :- पर्याय पर्याय से स्वतंत्र ही होती है परन्तु पर्याय द्रव्य का लक्ष करती है इसलिये द्रव्य को कारण कहा जाता है। कारणपरमात्मा से कार्यपरमात्मा होता है, वहाँ पर्याय द्रव्य पर लक्ष करती है इसलिये द्रव्य को कारण-निमित्त कहा जाता है। द्रव्य का लक्ष करती है इसलिये द्रव्य का आश्रय भी कहा जाता है। कारणवस्तु तो त्रिकाल है परन्तु उसे कारण कब कहा जाता है ? कि जब पर्याय द्रव्य का लक्ष करे तब त्रिकाली द्रव्य को कारण कहा जाता है। ऐसी वस्तुस्थिति है उसे समझने पर खोटा पानी उतर जाये और सच्चा पानी चढ़ जाये ऐसी बात है। वास्तव में तो द्रव्य पर्याय

को नहीं करता, पर्याय पर्याय से होती है, परन्तु यह बात जगत को कठिन लग। ऐसी सूक्ष्म है। पर्याय पर्याय से होती है - यह जानने का तात्पर्य द्रव्य स्वभाव पर लक्ष एवं दृष्टि करना है। सब का सार तो पर्याय को अन्तरोन्मुख करना है। सर्व शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है। वह वीतरागता द्रव्य के आश्रय से प्रगटती है। ।।२७।।

कर्म से तो विकार होता नहीं है, परन्तु विकार अपनी योग्यता से हो उस योग्यता में भी आत्मा व्याप्त नहीं होता। जो कारणरूप भगवान, जिसमें से केवलज्ञानादि पर्यायें होती हैं, उसका विकार में व्याप्त होना अशक्य ही है। ।।२८।।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं है, स्पर्श नहीं करता।

प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।

परद्रव्य की ओर देखने से राग ही होता है।

अपने द्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद करके देखने से अथवा गुण-गुणी के भेद करके देखने से राग ही होता है, वीतरागता नहीं होती।

पंचम परमपारिणामिकभाव का आश्रय करने से ही धर्म - वीतरागता होती है वह उपरोक्त चार बोलों का सार है; यह जैनदर्शन का मूल सिद्धान्त है।

अहा..हा...! यह बात भगवान के घर की और भगवान होने की है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का करेगा क्या ? यह

बातें डंके की चोट सिंहनाद से कही जा रही हैं। वीतराग-सर्वज्ञदेव के घर की यह बात दिव्यध्वनि में आयी है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता या स्पर्श नहीं करता है यह महासिद्धान्त श्री समयसार की तीसरी गाथा में कहा है। द्रव्य की स्वतंत्रता की यह कोई असाधारण घोषणा है ? कुम्भकार मिट्टी को छूता या स्पर्शता ही नहीं है तो घड़े को क्या करेगा ? मिट्टी ही स्वयं कर्ता होकर घड़े को बनाती है। यह तो भगवान की कही हुई, अंतर से आई हुई बात है। ।।२९।।

गुण-पर्याय की स्वतंत्रता एवं द्रव्य की महानता लक्ष में लेना है, यही मुख्य बात है। प्रत्येक पर्याय की स्वकाललब्धि देखने से निमित्ताधीन दृष्टि छूट जाती है और द्रव्यस्वभाव की महानता देखने से पर्यायदृष्टि - पर्याय का लक्ष छूट जाता है और वस्तु की दृष्टि हो जाती है। ।।३०।।

भाई ! यह शरीर के अवयव पृथक् हो जायेंगे, कोई शरण नहीं देगा, शरणभूत वस्तु पकड़ में नहीं आयेगी। प्रथम पदार्थ की स्वतंत्रता जैसी है वैसी स्वीकार करे और फिर गुलाँट लगाकर अंतर में जाये तब चैतन्यस्वभाव पकड़ में आता है। ।।३१।।

एक द्रव्य अन्य द्रव्य से भिन्न होने के कारण बाहर ही लोटता है। शरीर को आत्मा स्पर्श नहीं करता, बिच्छू का डंख शरीर को छूता नहीं है और बिच्छू काटे तब रोता-चिल्लाता है ! अहा..हा...! शरीर आत्मा के बाहर ही लोटता

है, वह आत्मा को क्या कर सकेगा ? पैर जमीन को नहीं छूता और धूप हो वहाँ पैर गर्म हो जाते हैं। पानी को अग्नि स्पर्श नहीं करती और अग्नि हो वहाँ पानी गर्म हो जाता है ! कर्म जीव को छूते नहीं हैं और कर्म हों वहाँ जीव को विकार होता है ! अहा..हा...! वह द्रव्य का अपना चमत्कारिक स्वभाव है; परन्तु उपादान को नहीं देखता और निमित्त पर दृष्टि पड़ी है; इसलिए निमित्त से उपादान में कार्य होने का भ्रम हो गया है। एक द्रव्य अन्य द्रव्य में प्रविष्ट नहीं हो सकता, बाहर ही लोटता है, वह अन्य द्रव्य को क्या करेगा ? यह सिद्धांत अंतर में बैठ जाय तो भ्रम टूट जाये और दृष्टि स्वोन्मुख हो जाये। **।।३२।।**

आत्मा वस्तु अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से है; नई-नई पर्यायें होना वह उसका स्वरूप है, परन्तु वे निमित्त से हुई हैं - ऐसा नहीं है। मैं त्रिकाली आनन्दस्वरूप हूँ - ऐसा ज्ञान नहीं था और ऐसा शब्द सुनकर वह ज्ञान हुआ है, तो कहते हैं कि उस पर्याय का वह काल होने से उस प्रकार वह ज्ञान हुआ है। वस्तुस्थिति वास्तव में इसी प्रकार है। एक परमाणु दूसरे परमाणु को पलट नहीं सकता। एक परमाणु जीव की पर्याय को नहीं पलट सकता। कुम्हार घड़ा बनाता है ऐसा नहीं है, क्योंकि कुम्हार तो घड़े के बाहर ही लोटता है, उसने घड़े का स्पर्श ही नहीं किया तो बनाये किस प्रकार ? सचमुच तो जीव में राग करने की शक्ति भी नहीं है, क्योंकि राग को करे ऐसी कोई शक्ति उसमें नहीं

है। यदि एक वस्तु दूसरी वस्तु को परिणमित कर सके - ऐसा होता तो वस्तु का वस्तुपना ही नहीं रहता।**।।३३।।**

आत्मा परद्रव्य को कर या भोग नहीं सकता - ऐसा जानकर परद्रव्य का कर्ता-भोक्तापना छोड़कर स्वसन्मुख होना है। कर्म विकार का कर्ता नहीं है - ऐसा कहकर कर्म के ओर की पराधीन दृष्टि छुड़ाना है।

विकार का कर्ता जीव नहीं है परन्तु कर्म है, कर्म व्यापक होकर विकार करता है - ऐसा कहकर एक समय के उपाधिभाव से भेदज्ञान कराके द्रव्य पर दृष्टि कराना है।

विकार उस समय की योग्यता से होना था वही हुआ है -ऐसा कहकर एक समय के विकार का लक्ष छुड़ाकर दृष्टि को द्रव्य की ओर ले जाना हैं।

विकार भी क्रमबद्ध में था वह हुआ है। उसमें उस क्रमबद्धपर्याय के स्वकाल का सत् परिणमन बतलाकर विकार का अकर्तृत्व बतलाकर ज्ञाता की ओर दृष्टि कराना है।

निर्मल परिणाम भी क्रमबद्ध है - ऐसा बतलाकर शुद्धपर्याय के एक अंश पर से भी लक्ष छुड़ाकर त्रैकालिक ध्रुवपर लक्ष कराना है।

पर्याय का कर्ता परद्रव्य नहीं है - ऐसा कहकर परद्रव्य से दृष्टि छुड़ाकर स्वद्रव्योन्मुख किया है।

पर्याय का कर्ता स्वद्रव्य भी नहीं है। पर्याय पर्याय के षट्कारकों से स्वतंत्र होती है, - ऐसी पर्याय की स्वतंत्रता बतलाकर पर्याय के उपर का लक्ष छुड़ाकर दृष्टि को द्रव्योन्मुख

कराना है।

विकार या निर्मल पर्याय का कर्ता ध्रुवद्रव्य नहीं है परन्तु वह पर्याय ही पर्याय का कर्ता है। बंध-मोक्ष परिणाम को ध्रुवद्रव्य नहीं करता - ऐसा बतलाकर पर्याय की सन्मुखता छुड़ाकर ध्रुव की सन्मुखता कराना है। ।।३४।।

भगवान आत्मा जीव है, वह जीव जो छह द्रव्य व्यक्त हैं उनसे अन्य है। छह द्रव्यों में द्रव्य-गुण तो नित्य हैं, परन्तु जो नवीन-नवीन पर्यायें होती हैं वे विकृत हों या अविकृत हों, परन्तु वे अपने षट्कारकों से होती हैं; पूर्वपर्याय कारण और उत्तरपर्याय कार्य यह सब व्यवहार के कथन हैं। केवलज्ञान की पर्याय हो या निगोद की पर्याय हो, परन्तु वह पर्याय अपने में अपने से अपने कारण है। छह द्रव्यस्वरूप लोक में द्रव्यों की पर्याय भी आ गई; द्रव्य, गुण और पर्याय आ गये। द्रव्य-गुण तो अपने कारण है, परन्तु विकार या अविकारी पर्याय भी किसी के आलम्बन बिना प्रति समय अपने षट्कारक से स्वतंत्र होती हैं। छह द्रव्यस्वरूप लोक का ऐसा स्वरूप है वह ज्ञेय है उसका आत्मा ज्ञायक है; परन्तु ज्ञायक आत्मा उसका कर्ता नहीं है; ज्ञाता आत्मा परवस्तु का कर्ता नहीं है, परवस्तु तो ज्ञेय है। ।।३५।।

विकल्प होता है वह क्रिया है, वह क्रिया परिणाम से भिन्न नहीं है और परिणाम द्रव्य से भिन्न नहीं है। इसलिये विकल्प का कर्ता स्वयं है, पर उसका कर्ता नहीं हैं। जीव के परिणाम अपने से हैं पर से नहीं हैं - ऐसा माने तब

तो अभी व्यवहार-श्रद्धा है। सम्यग्दर्शन की क्रिया परिणाम है, वह परिणाम द्रव्य से अभिन्न होने के कारण सम्यग्दर्शन का कर्ता जीव स्वयं है; दर्शनमोह का अभाव उसका कर्ता नहीं है। दिव्यध्वनि से ज्ञान नहीं होता, महामुनि के उपदेश से ज्ञान नहीं होता, क्योंकि ज्ञान की क्रिया परिणामस्वरूप है, वह परिणाम से भिन्न नहीं है और परिणाम द्रव्य से - जीव से भिन्न नहीं है। इसलिये ज्ञान की क्रिया का कर्ता जीव है परन्तु दिव्यध्वनि या महामुनि का उपदेश ज्ञान का कर्ता नहीं है। केवलज्ञान हुआ उसका कर्ता घातिकर्म का अभाव नहीं है अथवा व्रजवृषभनाराचसंहनन के कारण केवलज्ञान नहीं हुआ है, केवलज्ञान का कारण द्रव्य स्वयं ही है।।३६।।

प्रश्न :- 'क्रमनियत' शब्द का शब्दार्थ तथा भावार्थ बतलाईए ?

उत्तर :- 'क्रमनियत' शब्द में क्रम अर्थात् क्रमसर, तथा नियत अर्थात् निश्चित्। जिस समय जो पर्याय आनेवाली है, वही आयेगी, उसमें फेरफार नहीं हो सकता। तीनकाल में जिस समय जो पर्याय होनेवाली है, वही होगी। जगत का कर्ता ईश्वर नहीं, अथवा परद्रव्य का कर्ता आत्मा नहीं, परन्तु राग का भी कर्ता आत्मा नहीं। अरे ! यहाँ तो कहते हैं कि पलटती हुई पर्याय का भी कर्ता भी आत्मा नहीं। षट्कारक से स्वतंत्रपने कर्ता होकर पर्याय स्वयं पलटती है, वह सत् है और उसे किसी की भी अपेक्षा नहीं है। ।।३७।।

प्रश्न :- पर्याय क्रमबद्ध स्वकाल में उत्पन्न होती

है, यह बात समझ में आई, परन्तु इसी प्रकार की यही पर्याय उत्पन्न होगी यह इसमें कहाँ आया ?

उत्तर :- पर्याय क्रमबद्ध स्वकाल में उत्पन्न होती है, इसमें पर्याय जिस समय निश्चित होनेवाली है, वही उससमय होगी, ऐसा भी आ ही जाता है। क्योंकि स्वकाल में होनेवाली पर्याय को निमित्तादि किसी की भी अपेक्षा है ही नहीं।।३८।।

प्रश्न :- एक ओर तो पर्याय को क्रमबद्ध कहते हो और दूसरी ओर पर्याय के उपर से दृष्टि हटाने को भी कहते हो - ऐसा कैसे ?

उत्तर :- पर्याय क्रमबद्ध होती है - ऐसा जाने तो पर्याय का कर्तृत्व छूटकर अकर्तास्वभावी द्रव्य के उपर दृष्टि जाती है। क्रमबद्ध के उपर दृष्टि रखकर क्रमबद्ध का निर्णय नहीं होता। द्रव्य के उपर दृष्टि करने पर ही, क्रमबद्ध का सच्चा निर्णय होता है। अरे ! क्रमबद्ध तो सर्वज्ञ का प्राण है। ।।३९।।

प्रश्न :- जिसे पुरुषार्थ नहीं करना है, ऐसा जीव 'क्रमबद्ध में जो होना होगा सो होगा' - ऐसा मानकर प्रमाद में पड़ा रहेगा और पुरुषार्थहीन हो जाएगा ?

उत्तर :- अरे भाई ! 'क्रमबद्ध' के निर्णय में अकर्तावाद का अनन्त पुरुषार्थ होता है। अनन्त पुरुषार्थ हुए बिना 'क्रमबद्ध' माना नहीं जा सकता। 'क्रमबद्ध' का सिद्धान्त ऐसा है कि सारे ही विरोध का अभाव कर दे। क्रमबद्ध में ज्ञातापने का - अकर्त्तापने का पुरुषार्थ है। रागको बदलना तो नहीं, किन्तु

पर्याय को भी करना या बदलना नहीं। बस, जाने.....जाने और जाने। समयसार गाथा ३२० में कहा है कि जीव बन्ध-मोक्ष को भी करता नहीं, जानता ही है। क्रमबद्ध के निर्णायक का लक्ष्य द्रव्य के उपर है, द्रव्य के उपर लक्ष्यवाला ज्ञाता है। उसको 'क्रमबद्ध' के काल में रागादि आते हैं, किन्तु उनके उपर लक्ष्य नहीं है, अतः वह रागादि का जाननेवाला ही है। एक क्रमबद्ध को समझे तो सर्व निर्णय स्पष्ट हो जाए। निमित्त से होता नहीं, पर्याय आगे पीछे होती नहीं और हुए बिना भी रहती नहीं। अपनी पर्याय के भी अकर्ता बन जाओ। क्रमबद्ध का तात्पर्य वीतरागता है। ।।४०।।

प्रश्न :- मोक्ष की पर्याय यत्नपूर्वक करे तब होगी या होनी होगी तब होगी ?

उत्तर :- ज्ञानी की दृष्टि द्रव्य के उपर पड़ी है, द्रव्य में भाव नाम का गुण है, इसी गुण के कारण निर्मलपर्याय होती ही है, उसको करें तब हो - ऐसा नहीं है। दृष्टि द्रव्य के उपर पड़ने से निर्मलता होती ही है।।४१।।

प्रश्न :- क्या श्रुतज्ञानी को केवलज्ञान प्रगट करने की उतावली नहीं होती ?

उत्तर :- श्रुतज्ञानी को केवलज्ञान होने ही वाला है, अतः उतावली अधैर्य नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि क्रमबद्धपर्याय में केवलज्ञान प्रगट होनेके काल में प्रगट होगा ही, इसलिये उतावली नहीं होती। क्रमबद्ध में अकर्तापना होने से वीतरागता है। पूर्ण स्वरूप में दृष्टि है, इसलिये वीतरागता

है। जैसे बीज(दूज) चन्द्र का उदय हुआ है, वह पूर्णचन्द्र बनकर ही रहेगा इसमें संशय कैसा ? वैसे ही जिसे अंतर आत्मभान हुआ है, उसे केवलज्ञान होना ही है, केवलज्ञान दौड़ा आ रहा है, वह तो अल्पकाल में प्रगट होगा ही, इसमें संशय या सन्देह श्रुतज्ञानी को नहीं होता। ।।४२।।

प्रश्न :- हमारी काललब्धि नहीं पकी, इसलिए सम्यग्दर्शन नहीं होता न ?

उत्तर :- नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है। तुम्हारा पुरुषार्थ नहीं है, इसलिए सम्यग्दर्शन नहीं होता। काललब्धि की भाषा सुनकर धारणा कर ले और ऐसा बोले - यह नहीं चलेगा। भगवान ने देखा होगा तब होगा - ऐसी धारणा कर लेने से काम नहीं बनेगा। भगवान ने देखा है। उसकी प्रतीति है क्या ? भगवान ने देखा है - उसका यथार्थ ज्ञान करे, यथार्थ निर्णय करे, उसकी दृष्टि तो द्रव्यस्वभाव उपर होती है और उसकी काललब्धि भी पक ही गई होती है। पर के कार्य करने में तो उलटा पुरुषार्थ बराबर करता है और स्वयं के आत्मकार्य में काललब्धि का बहाना निकालकर पुरुषार्थ नहीं करता, तो सम्यग्दर्शन कहाँ से होगा ? ।।४३।।

संकलन

अनादि की मूल भूल परमागमसार - ३५२, ४०७, ४७०, ४७७, ७८६, ४९१, ६४९, ६५०, ६६३, ७६८, ८१२, ८४९, ८६१, ८६२, ८६३, ८७२, ८८८, ८८९, ९०२, ९२४, ९२८, ९३२, ९३४,
गुरुदेवश्री के वचनामृत :- २६८
पात्रता द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर - पृष्ट नं. ५, ३, ९, १२, १३, १५, १८, ४२, ४३, ४४, ४६, १२८, १५५, १६८, २५७, २६२, २७२, ३५८, ३७३, ४०४, ४३९, ४४७, ४५३, ४८०, ४८५, ४८८, ५२५, ५४०, ६२८, ६३८, ६५१, ६५५, ६७६, ६८१, ६८२, ७००, ७२०, ७९८, ८०६, ८०९, ८३५, ८४१, ८४६, ८५१, ८८१, ८८३, ९०३, ९०९, ९१४, ९२१, ९४२, ९४५, ९६२, ९७७, ९९७, १००५, १०११, १०२१, १०२६, १०४६, १०५६, १०६२, १०७५, ११५१,
अंतरशोधन :- ५, ६, १६, १७, १९, २१, २३, ३४, ३६, ७१, ७९, ८१, ८८, ९२, ९३, १००, ११३, १४३, १६४, १६६, १६७, १८३, १८४, १९६, २००, २२२, २६९,
परमागमसार :- ८२, १०७, १९२, १९३, १९५, २१३, २५२, २५८, २९१, २९४, ३०१, ३३८, ३६५, ३९०, ३९२, ४२०, ४२१, ४२२, ४२६, ४९२, ५०३, ५०५, ५२२, ५२३, ५४०, ५५८, ५६१, ५८८, ५८९, ६०२, ६६२, ६७३, ७२१, ७२४, ७२६, ७२९, ७३५, ७४२, ७४४, ७५०, ७७६, ७७७, ८०३, ८३१, ८३३, ८३४, ८३५, ८३६, ८४५, ८४६, ८६०, ८७१, ८९१, ९००, ९०१, ९२७, ९४९, ९६०, ९७७, ९७८, ९७९, ९८३, ९९५, ९९८, १००३, दृष्टि के निधान - २७१
वैराग्य द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर - ३६४, ३७९, ४४९, ४५४, ४५९, ५६४, ४७७, ५७४, ५९२, ५९४, ५९५, ६०३, ७०३, ७३३, ७४३, ७४६, ७४७, ७४८, ७५१, ७५२, ७५४, ७६२, ७७१, ७८७, ७९०, ७९३, ८०४, ८०५, ८२०, ८३८, ८५९, ८६३, ८६९, ८७७, ८७९, ८९१, ८९२, ८९६, ९०१, ९२४, ९२५, ९३१, ९३२, ९३४, ९३६, ९४४, ९४८, ९५३, ९५६, ९५७, ९५८, ९७६, ९७८, ९८६, ९९२, ९९३, ९९५, ९९८, १०१४, १०१६, १०२०, १०२८, १०३९, १०४०, १०६०, १०६६, १०६९, १०७१, ११५६, ११६१ अंतर शोधन :- २३, २८४ दृष्टि के निधान - १४, ३४ ज्ञानगोष्ठी - २२४
देय-शास्त्र-गुरु द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर - ७६१, ८३६, ८९३, १०४३, ११४१ परमागमसार - ७९८, ८०८, ८२६, ९५१, १००६
गुरुदेवश्री के वचनामृत - ७५, २४२, २५७ ज्ञानगोष्ठी- १, ३, ५ अंतरशोधन - ३४
श्रावकधर्म प्रकाश :- पृष्ट नं. १३, १७, ३४, ३५, ४०, ४४, ४५, ४६, ४८, ६९, ८९, ९२, ९३, ९६, ९७, ९८, ९९, १००, १०१, १०७, ११५, ११८, १२०, १२१, १२२, १२४, १२७, १३४, १३५, १३७, १४१, १४२, १४४, १४८
भेद-ज्ञान द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर :- १६२, १६४, २७५, ३६५, ३७६, ३८५, ६००, ६७०, ६७७, ६८५, ६८७, ६८९, ६९९, ७०४, ७८५, ७८८, ७९२, ८०१, ८१८, ८२९, १०६३, १०६७, १०७०, ११२६, ११३४, ११४३
परमागमसार :- २३, १७६, ३४८, ३७९, ४२३, ७०८, ९०५
ज्ञानगोष्ठी :- पृष्ट नं. ६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७०, ७२, ७३, ७४, ७५, ७८, ८१,
गुरुदेवश्री के वचनामृत :- २६६
दृष्टि के निधान :- ३९, ५४, ६९, १६३, २२५, ३०५, ४००, ४४३
सम्यग्दर्शन द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर :- १०२, २७७, २८६, ४२३, ४४३, ५६८, ५६९, ५७३, ८१४, ८२१, ८२४, ८२६, ८४३, ८६४, ८७४, ९२३, १०४५
परमागमसार :- ७९, १८६, १८७, १८८, २१२, २२१, २२४, २९९, ३५१, ३७०, ४३१, ५७१, ५७५, ७५४, ७९२, ८०५, ८१३, ८५६, ९०३, ९०४, ९०५, ९९०, १००२
ज्ञानगोष्ठी :- पृष्ट नं. ४३, ४६, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५६, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९६, ९७, ९८, ९९, १००, १०१, १०३, १०४, १०५, १०६
गुरुदेवश्री के वचनामृत :- १९, २४ दृष्टि के निधान :- ३९८
द्रव्य-गुण-पर्याय द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर :- ५७, ६२, ११८, १२२, १४६, १९१, २७४, ३५७, ३८७, ४२४, ४४७, ४५२, ७२६, ७३५, ७४९, ७५३, ८३१, ८३२, ८४२, ८८७, ९५०, ९६१, ९७२, ९९६
परमागमसार :- ४६, ४७, १८३, ५९६, ७६३, ७६४, ७६६, ७६९, ७८५
ज्ञानगोष्ठी :- पृष्ट नं. १५३ - १६९
निश्चय-व्यवहार द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर :- ६१८, ६९२, ६९४, ८१९
परमागमसार :- २७६, ६७१ ज्ञानगोष्ठी :- पृष्ट नं. १८०, १८१, १८३
निमित्त-उपादान द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर :- ३४९, ७२८, ७३८, ८८४, ८९५, ८९८
परमागमसार :- ५३४ ज्ञानगोष्ठी :- पृष्ट नं. १७२ - १७७ निमित्त उपादान विवेचन
क्रमबद्धपर्याय द्रव्यदृष्टि जिनेश्वर :- ५५, ६१, ७३, ७४, ७५, ७८, ७९, ८०, ८३, १००, १११, १३९, १४०, १६०, २६७, २७०, २९२, ३३१, ३६२, ४०८, ४३१, ४३८, ४४६, ४५५, ४५६, ४६१, ४७५, ५७५, ५९६, ६३९, ६४१, ६४९, ७०१, ७२९, ८३०, ८८५ ज्ञानगोष्ठी :- पृष्ट नं. २१४, २१६, २१८, २२३, २२४